ISSN – 2349-3100 Peer Reviewed

Vol. II , Aug – 2014 Refereed Journal

अन्ताराष्ट्रिय-मूल्यांकित-त्रैमासिक-सन्दर्भित-शोधपत्रिका

वेदज्योतिष्मती

Vedajyotishmati

संरक्षकाः

प्रो. रामचन्द्रझाः, प्रो. रामदेवझाः,

प्रो. देवेन्द्रमिश्रः, प्रो. शिवाकान्तझाः

प्रधानसम्पादकः

प्रो. हंसधरझाः

आचार्यः, ज्योतिषविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

भोपालपरिसरः।

सम्पादकः

डॉ. आशीषकुमारचौधरी

असिस्टेंट-प्रोफेसर, ज्योतिषविभागः,

क.जे.सोमैया संस्कृतविद्यापीठम्, मुम्बई।

प्रकाशकः

राष्ट्रिय-संस्कृत-अनुसंधान-संस्थानम्, के. एम. टैंक लहेरियासरायः, दरभंगा

सम्पादकमण्डल

1 प्रो .बोधकुमार झा,
आचार्य, व्याकरण-विभाग,
क. जे. सोमैया-संस्कृतविद्यापीठ, मुम्बई ।

2 प्रो. हंसधर झा,
ज्योतिष विभाग ,आचार्य,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान , भोपाल परिसर, भोपाल।

3 प्रो. प्रमोदवर्धन कौण्डिल्यायन,
विभागाध्यक्ष, मीमांसा दर्शन विभाग नेपाल,
नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, काठमाण्डु, नेपाल ।

4 जूही जेनोजे,
आचार्या,दर्शन विभाग,
कोरिया विश्वविद्यालय, सीओल, कोरिया ।

5 डॉ. प्रवेश सक्सेना,
पूर्व आचार्या,संस्कृत विभाग,
जाँकिर हुसैन महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय।

6 डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी,
आचार्य ,संस्कृत विभाग,
मोदी विश्वविद्यालय, राजस्थान ।

7 डॉ. दिलीपकुमार झा,
विभागाध्यक्ष-धर्मशास्त्र विभाग
कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा ।

8 डॉ. राजीव मिश्र,
प्राचार्य, सन्तनागपाल संस्कृतमहाविद्यालय,
एवं शोध संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

9 टेल्टो डेल्टेज,
आचार्य दर्शन एवं संस्कृति विभाग,
हेल्डमार्ग विश्वविद्यालय,हेल्डनवर्ग, जर्मनी।

10 प्रो. विद्यानन्द झा,
साहित्यविभागाध्यक्ष,
भोपाल परिसर, भोपाल।

पुनर्वीक्षणमण्डल

1. आचार्य रामदेव झा,
पूर्व आचार्य ज्योतिष विभाग,
लालबहादुर शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली ।

2. आचार्य नीलाम्बर चौधरी,
आचार्य रामभगत राजीवगाँधी महाविद्यालय दरभंगा ।

3 आचार्या प्रवेश सक्सेना,
आचार्या ,जाँकिर हुसैन महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली।

प्रबंधक संपादक

1. श्री पंकज ठाकुर एवं अध्यक्ष
रा.सं.अनु. संस्थान, दरभंगा।

सलाहकार संपादक

1. डॉ. रंजय कुमार सिंह
रा. सं. संस्थान, मुम्बई ।

सह –संपादिका एवं सह –संपादिकश्च

1 **डॉ गीता दूबे** , रा. सं. संस्थान, मुम्बई ।
2. **डॉ मनीष कुमार चौधरी** ,अध्या.सं.दरभंगा ।
संगणक सहायक -नितीश भारद्वाज ।

@copy right – Rashtriya Sanskrit Anusandan Sansthan

Email – rsas.kothram@gmail.com, vjvv.rs@gmail.com,
Ph No. 06272-224671, 09619269812, 07506137027 अंक – अगस्त 2014

पत्रिका में प्रकाशित लेखों से प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। विवाद का समाधान दरभंगा न्यायालय से ही स्वीकार्य है। लेखों को परिवर्तित, स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने का पूरा अधिकार प्रकाशक को होगा ।A trilingual Educational Sanskrit Research Journal Published by the Rashtriya Sanskrit Anusandhan Sansthan, Darbhanga

प्रो.मदनमोहन पाठक
प्राप्तस्वर्णपदक
आचार्य एवं अध्यक्ष, ज्यौतिष विभाग
सम्पादक-श्रीजगन्नाथपञ्चांगम्
एवं भास्करोदयः
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
लखनऊपरिसर,विशालखण्ड-4
गोमती नगर, लखनऊ, उ.प्र।

Prof. Madan Mohan Pathak
Goldmedalist
Professor and Head, Dept.oJyotish
Editor –Sri jagannath panchangam
Bhaskaroday (jyoti.)
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
LUCKNOW CAMPUS, VISHALKHAND-4
GOMTI NAGAR, LUCKNOW,U. P

शुभाशंसनम्

"नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चान्द्रमसीव रात्रि " रिव **"वेदज्योतिष्मती"** नामिका संस्कृतवाङ्मयस्य निखिलज्ञानविज्ञानपथप्रदर्शिका सरला सुबोधा त्रिपथगा (**संस्कृत-हिन्दी-आँग्लभाषीया**) विश्वमनोज्ञा। इयं पत्रिका संस्कृतजगतः विकासाय अजस्त्रमग्रेसरा वर्तते। अत्र न केवलं भारतीयसंस्कृतविदुषां लेखो दृष्टः, अपितु भारताद्बहिःस्थानां संस्कृतविदुषामपि दृष्टा नैके लेखाः। अनेन सत्प्रयासेन वेद-वेदाङ्गानां न केवलं भारतवर्षे प्रचारः प्रसारो भविष्यति, अपितु भारताद्बहिरपि संस्कृतसाहित्यं प्रति जनाः आकृष्टाः भविष्यन्ति। अनेन सत्प्रयासेन विश्वबन्धुत्वभावनायाः विकासोऽपि भविष्यति। अस्माकं वेदोऽपि निर्दिशति –

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ।।"

अवसरेऽस्मिन् अस्य सारस्वतयज्ञकर्मणः सम्पादकाः विद्याविनयसम्पन्नाः स्वनामधन्याः **आशीषकुमारचौधरीमहाशयाः** विशेषेण सन्ति अभिनन्दनीयाः। सम्पादनकर्मणि महोदयस्यास्य श्रद्धोपेतः श्रमः सफलो भूयात्। जायताञ्च पत्रिकेयं जगन्मङ्गलायेति शम्।

आचार्यमदनमोहनपाठकः

सम्पादकीयम्

नाविदितं सुरभारतीसमुपासकैः सुधीभिर्यत् सुरगीर्यथैव प्राचीनतमा तथैव नवनवोन्मेषशालितया नूतनतमापि। अत्र विद्यमानमलौकिकज्ञानगङ्गाप्रवाहं विलोक्य को नाम सहृदयो लोकोत्तराह्लादं न विन्दते। ज्ञानगङ्गाप्रवाहोऽसावनादिकालादेव वेदपुराणधर्मशास्त्रदर्शनादिग्रन्थमाध्यमेन, विविधमनीषिणां ग्रन्थपत्रिकादिमाध्यमेन चानवरतं लोकं पावयन् वरीवर्ति। तस्मिन्नेव क्रमे देशदेशान्तर्गतानां विविधविदुषां संस्कृत-हिन्दी-आङ्ग्लभाषोपनिबद्धैर्ज्ञानविज्ञानमयैश्शोधलेखैश्शोभमाना वेदज्योतिष्मतीतिनामधेया त्रैमासिकी शोधपत्रिका लोकमाह्लादयन्ती प्राकाश्यमेतीति मोदते मे मनः। तत्रापि ऐषमो वेदज्योतिष्मत्या **द्वितीयमप्यङ्कप्रसूनं** पाठकानां हस्ते सादरं समर्प्यत इति महान् सन्तोषः। आशासेऽङ्कोऽयं द्वितीयोऽपि शोधच्छात्रोपकारी, पाठकानां स्वान्ताह्लादकारी स्यात्। यतः पाठकानां तोष एव कस्यापि ग्रन्थस्य पत्रिकाया वा साफल्यं जनयति।

पत्रिकाया अस्याः प्रकाशने मुख्यकारणभूतोऽस्ति परमजिज्ञासुः युवपण्डितः **डॉ. आशीषकुमारचौधरीमहोदयः**।राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य सोमैयापरिसरे अध्यापयन्नप्यसौ पत्रिकाया अस्याः सम्पादनदायित्त्वं प्रामुख्येन सोत्साहं निर्वहति। एतदर्थं श्रीचौधरीमहोदयाय हृदयेनाशेषमाशीर्वादसहितं धन्यवादं प्रयच्छामि। अस्मिन्नेव क्रमे साभिनन्दनं साधुवादं समर्पयामि तेषां समेषां विद्वन्निकराणां प्राध्यापकानां शोधच्छात्राणां कृतेऽपि येषां सार्थकश्रमोद्भूतैश्शोधपत्रैः पत्रिकेयं गौरवाय कल्पते। क्रमेऽस्मिन् ते सर्वेऽपि अक्षरसंयोजकादिसहयोगिनः पत्रिकाप्रकाशनाधिकारिणश्चाभिनन्दनीयाः साधुवादार्हाश्च येषाममूल्यं योगदानं वेदज्योतिष्मतीपत्रिकाप्रकाशनरूपज्ञानयज्ञे सम्प्राप्तम्। अन्ते च कामये भगवन्तं महाकालं यदेवमेव ज्ञानविज्ञानोद्भासकसारगर्भितविपश्चिल्लेखरञ्जिता पत्रिकेयं प्राकाश्यमधिगच्छन्ती अशेषकालं यावल्लोकानुरञ्जिनी स्यादिति शम्।

वेदज्योतिष्मतीनाम्नी पत्रिका बुधपोषिता।
भासतां हि चिरं लोके ज्ञानविज्ञानगुम्फिता।।

गुणैकपक्षपातिनां सहृदयानां विदुषां शुभाशंसनमपेक्षमाणः-

(प्रो. हंसधर झाः)
प्रधानसम्पादकः

 ISSN – 2349-3100

✍ एक नई पहल- सम्पादक

वेदज्योतिष्मती के नियमित पाठकों , बुद्धिजीवियों एवं भारतीय दर्शन के प्रति आस्थावान् जागरूक सामाजिकों की निरन्तर माँग का आदर करते हुए यह विज्ञापित किया जाता है कि वेदज्योतिष्मती एक विशेष दार्शनिक स्तम्भ का श्रीगणेश करने जा रही है, जो इस अङ्क से पाठकों के लिए उपलब्ध होगा । इस स्तम्भ में वेदान्तदर्शन के एक – एक सूत्र का प्रामाणिक विवेचन करने का संकल्प है ।इस स्तम्भ के लेखक प्रो. बोधकुमार झा हैं ।उनके प्रति हम अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं ।

भारतीय दर्शन की कई विचारधाराएँ हैं । उनको मुख्यरूप से दो वर्गों में विभक्त किया जाता है – आस्तिक और नास्तिक । इनमें चार्वाक , बौद्ध , जैन , न्याय , वैशेषिक , सांख्य , योग , मीमांसा और अन्त में वेदान्त दर्शन का स्थान आता है । वेदान्त दर्शन को उपनिषद् दर्शन भी कहते हैं । इस दर्शन के तीन मान्य ग्रन्थ हैं – उपनिषद् , ब्रह्मसूत्र और गीता । इन्हें प्रस्थानत्रयी कहा जाता है । महर्षि वेदव्यास ने उपनिषद् में वर्णित ज्ञानतत्त्वों को संक्षिप्त और सार रूप में प्रस्तुत करने के लिए सूत्रों को लिखा । जिनमें परब्रह्म के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग निरूपण होने से उनका नाम ब्रह्मसूत्र पडा । इनमें वेद के अन्त अर्थात् अन्तिम ज्ञानकाण्ड का निचोड होने के कारण इन्हें वेदान्तसूत्र भी कहतें हैं । इन सूत्रों की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की , जिनमें पर्याप्त मतभेद हैं । फलतः वेदान्त में अनेकों वाद आ गये , जिनमें अद्वैत , विशिष्टाद्वैत , द्वैत , द्वैताद्वैत , शुद्धाद्वैत प्रमुख हैं । इन वादों में शंकराचार्य का अद्वैतवाद सर्वाधिक आदरणीय है । इस दार्शनिक निबन्ध में आचार्य शंकर के भाष्य को ही मूल आधार मानकर विवेचन किया जाना है ।

दर्शन के मौलिक प्रश्न हैं – हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? दिखाई देने वाला संसार क्या है ? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? यह चेतन है या अचेतन ? जीवन का उद्देश्य क्या है ? इसकी सिद्धि का कौन सा मार्ग है ? इस तरह के प्रश्नों का हल ब्रह्मसूत्र के आधार पर दार्शनिक स्तम्भ में ढूँढने की कोशिश होगी । आशा है , पाठकवर्ग की कसौटी पर यह स्तम्भ खरा उतरेगा ।

विषयसूची पृष्ठसंख्या

* सम्पादकीयम्	प्रो.हंसधरझाः	4
* एक नई पहल	सम्पादक	5
* दार्शनिक स्तम्भ -अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	प्रो. बोधकुमार झा	7
* संस्कृतम्, सामाजिकी सद्भावना च	डॉ. दिलीपकुमारझाः	8
* वर्तुलाकाराया धरायाः समत्वदर्शने सैद्धान्तिकं चिन्तनम्	प्रो.हंसधरझाः	11
* वेदेषु ग्रहणविमर्शः	डॉ. अशोकथपलियालः	14
* कारकविवेचनम्	डॉ. धनुर्धरझाः	18
* पश्य मृगो धावतीत्यत्र शाब्दबोधोपपत्तिः	मौनिका बोल्ला	21
* केन्द्राधिपत्यदोष : गुरु और शुक्र के सन्दर्भ में	डॉ. राजीवरंजन	24
* रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति	डॉ .मोहिनी अरोरा	27
* वेदों में तिथियों की वैज्ञानिक अवधारणा	डॉ. आशीष कुमार चौधरी	30
* पशु-पक्षियों पर आधारित यात्राकालीन शकुन मीमांसा	डॉ.सुनयनाभाटी	34
* रामचरितमानस में नीतितत्त्व	डॉ.(श्रीमती) गीतादूबे	39
* भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था	डॉ. रंजयकुमारसिंह	43
* **Contribution of India to the World sadhana gayatri mantras**	**Juhe jehoge**	**48**
* **An Overview on Reference Service on Web Environment**	**Rautmale Anand S**	**51**

दार्शनिक स्तम्भ

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा(ब्रह्मसूत्र. 1/1/1)

✍प्रो .बोधकुमार झा

(शब्दार्थ – अथ = इसके बाद , अतः= इसलिए , ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्म के विषय में ज्ञान की इच्छा , करनी चाहिये ।)

मैं दुबला हूँ,मैं गोरा हूँ,मैं बैठता हूँ –ऐसा व्यवहार होता है । इन वाक्यों में देह को "मैं" कहा जाता है ।मैं अन्धा,बहरा हूँ –इनमें इन्द्रिय को मैं कहा जाता है ।मैं सुखी हूँ ,दुःखी हूँ – इन प्रयोगों में मन को मैं शब्द का अर्थ माना जाता है । पुत्र,भार्या आदि दुःखी है , तो कहते हैं कि मैं दुःखी हूँ । यहाँ मैं का अर्थ पुत्र,भार्या आदि हैं ।मैं शुद्ध,बुद्ध,आनन्द हूँ –इनमें मैं का अर्थ आत्मा है । इस तरह शरीर, इन्द्रिय, मन, पुत्र पत्नी, आत्मा-इन सभी के लिए मैं शब्द का व्यवहार देखा जाता है। क्या, ये सारे अर्थ सही हैं ? सत्य तो एक होता है। इसलिए सभी को सत्य नहीं माना जा सकता । तो फिर ऐसा व्यवहार क्यों होता है ? जब से ब्रह्माण्ड है,मैं के ये सारे अर्थ मान्य हैं।वेदान्त दर्शन कहता है – मैं का अर्थ आत्मा, सिर्फ आत्मा है । आत्मा में शरीर आदि का अध्यास होता है । जिसके कारण जीव शरीर आदि को ही मैं मान बैठता है । अयथार्थ को यथार्थ समझ लेता है । अध्यास अर्थात् मिथ्याज्ञान । जिसे अविद्या या अज्ञान या भ्रम भी कहा जाता है । यह अध्यास अनादि है अर्थात् इसका आदि नहीं है । यह अनन्त है अर्थात् इसका अन्त नहीं है । सच में जो है नहीं , जीव उसे मैं मानकर व्यवहार करता है । जब शास्त्र से सङ्गति होती है । स्वाध्याय से , चिन्तन से आत्मा में होने वाले अध्यास का पता चलता है । तब जीव समझता है कि सभी अनर्थों का बीज अविद्या है । मैं तो शुद्ध . बुद्ध , मुक्त , आनन्दमय आत्मा हूँ । मैं ही ब्रह्म हूँ । जीव और ब्रह्म में भेद तो है ही नहीं । अविद्या के कारण मैंने अनर्थ को अर्थ समझ रखा था । इसी अनर्थ के त्याग के लिए और आत्मा – ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान के लिए वेदान्त दर्शन का आरम्भ होता है । समस्त दुःखों से निवृत्ति आत्मज्ञान से होती है । यह आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान सबको प्राप्त रहता है । किन्तु अविद्या के कारण वह अप्राप्त जैसा होता है । जैसे गर्दन में माला है , किन्तु भ्रमवश व्यक्ति उसे ढूँढता रहता है । परेशान होता है । यह बात कोई दूसरा बताता है कि माला तो तेरी गर्दन में ही है । ऐसा सुनकर देखकर वह व्यक्ति ऐसा खुश होता है , जैसे कि कोई नई वस्तु जो उसके पास नहीं थी , वह मिल गयी हो । वेदान्त दर्शन का यही काम है । वह जीव को उसी के तत्त्वज्ञान को उसे बता देता है । उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र हमें ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करने को कहता है । परन्तु जिज्ञासा तभी होती है , जब कि कोई प्रयोजन सिद्ध होना हो और मन में कोई संशय हो । ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन निःश्रेयस है । निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति । हर व्यक्ति दुःखों से अपनी मुक्ति चाहता है । वह ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव है । वह ब्रह्म कोई और नहीं , स्वयं आत्मा है । आत्मा का ज्ञान होते ही मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है । किन्तु आत्मा के बारे में बहुत भ्रान्तियाँ हैं । अनेक मान्यताएँ हैं । चैतन्य युक्त शरीर , चेतन इन्द्रिय , मन , विज्ञान , शून्य , कर्त्ता , भोक्ता , ईश्वर आदि को आत्मा मानने वाले बहुत हैं । अतः वस्तुतः आत्मा क्या है ? इसकी जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिये । जिज्ञासा से ही सच्चा ज्ञान सम्भव है । सच्चे ज्ञान से ही परम पुरुषार्थ (प्रयोजन) निःश्रेयस की सिद्धि होगी । यही प्रथम ब्रह्मसूत्र का आशय है ।

सभी अनर्थों का बीज अविद्या है ।

आचार्य, व्याकरण-विभाग, क. जे. सोमैया-संस्कृतविद्यापीठ, मुम्बई

संस्कृतम्, सामाजिकी सद्भावना च

✍ डॉ. दिलीपकुमारझाः

ऋषीणामाद्यानां गहनमननावाप्तसुयशाः
श्रुतीनां शास्त्राणां निखिलगुणतत्त्वार्थनिलया।
पुरातत्त्वाधारा सकलभवज्ञानाब्धिविभवा
जयेद् दैवी वाणी त्रिभुवनमनोज्ञा बुधप्रिया ।।[1]

परिष्कृतं, परिशुद्धं, व्याकरणादिदोषरहितं यत् तत् संस्कृतम् । प्राचीनैः ऋषिभिर्मुनिभिश्च भाषागतदोषपरिष्कारेण, अपशब्दादिदोषवारणेन या परिष्कृता भाषा व्यवहृतिमानीता सैव संस्कृतभाषा – नाम्ना सम्बोध्यते, प्रशस्यते, आद्रियते च । 'विद्वांसो हि देवाः' ।विद्वज्जनव्यवहृता चेयं भाषा । देवभाषा, देववाणी, गीर्वाणवाणी, गीर्वाणगीरित्यादिभिर्नामधेयैः व्यवह्रियते । इयमेव भाषा प्राकृतभाषापदमुपगतवती । सेयं भाषा भारतीयानां सामाजिकसद्भावनायाःकृते प्राणरूपिणी, जीवनोन्नायिका, सत्पथप्रदर्शिनी, आचारविचारप्रवर्तिनी, कर्तव्याकर्तव्यबोधिनी, लोकद्वयहितसम्पादिनी च ।

भारतवर्षस्य समस्तमपि प्राचीनं वाङ्मयं संस्कृतभाषामाश्रित्यैवावतिष्ठते । निखिलमपि वैदिकं वाङ्मयं, रामायणं, महाभारतं. पुराणानि, स्मृतिग्रन्थाः, दर्शनानि, धर्मग्रन्थाः, महाकाव्यानि, काव्यानि, नाटकानि, गद्यकाव्यानि, गीतिकाव्यानि, आख्यानसाहित्यम्, नीतिग्रन्थादयश्च संस्कृतभाषायामेवोपलभ्यन्ते । न केवलमेतदेव, व्याकरणं, काव्यशास्त्रं, गणितं, ज्योतिषम्, आचारशास्त्रं, काव्यशास्त्रं, आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, वास्तुकलाशास्त्रम्, अर्थशास्त्रम्, राजनीतिशास्त्रम्, ऐतिह्यम्, छन्दःशास्त्रम्, कोशग्रन्थाश्च संस्कृतभाषाया गौरवमभिवर्धयन्ते । समाजस्य सद्भावनायाः तद्ज्ञानस्य विज्ञानस्य न तादृशं किमप्यङ्गम्, यन्नैवोपलभ्यते संस्कृतभाषायाम् । प्राचीनानाम् ऋषीणां, महर्षीणां, कवीनां, तत्त्वज्ञानाम् अनारतश्रमस्यैव फलमेतद् यदीदृशं विपुलं संस्कृतवाङ्मयं दृष्टिपथमुपयाति ।

प्राचीनभारतीयसाहित्यानुशीलनेन स्फुटमेतदवगम्यते यद् ईसवीयसंवत्सरात् पूर्वं गीर्वाणगीरियं जनसाधारणे व्यवहृताऽभूत् । न केवलं विद्वज्जनव्यवहृतभाषारूपेणैवेयं प्रायुज्यत, अपितु लौकिकानामपि व्यवहारास्पदमभूत् । निरूक्तकारो यास्कः संस्कृतभाषा (व्यवहारभाषा) इति निरूपयति । पाणिनिकृतसूत्राण्यपि एतदेव समर्थयन्ते । यथा-दूराह्वाने प्लुतत्वम्, प्रत्यभिवादे अन्तिमस्वरप्लुतत्वं च । पाणिनिना वैदिकलौकिकभाषयोः विभेदो छन्दस्-भाषा-शब्दयोः प्रयोगेण विधीयते । एतेन व्यवहृतभाषारुपेण संस्कृतस्य प्रयोगो लक्ष्यते ।रामायणकाले, महाभारतकाले च संस्कृतभाषैव लोकव्यवहृतिभाषा ऽभूदिति पाश्चात्त्यैरपि निर्विवादम् उररीक्रियते । हनुमान् अशोकवाटिकायां सीतां प्राप्य संस्कृतम् आश्रित्यैव विवक्षति –'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्'।[2] बौद्धकविरश्वघोषः प्राकृतभाषां परित्यज्य बुद्धचरितसौन्दरानन्दकाव्यद्वयं संस्कृतभाषायामेव निरमिमीत । द्वितीयशताब्द्या आरभ्य एकोनविंशतितमशताब्दीं यावत् सर्वेऽपि शिलालेखाः प्रायेण संस्कृत भाषाश्रया एव । राज्ञो भोजस्य काले संस्कृतस्य प्रचुरः प्रचारो लेकविदित एव । कविर्बिल्हणः कश्मीरदेशजनारीणां संस्कृतभाषाज्ञानं तत्प्रयोगं च प्रमाणयति ।मैकडानल – कीथ – विण्टरनित्स – पाल – डायसन – विण्डिश – हर्टलप्रभृतयः पाश्चात्त्यविद्वांसोऽपि न केवलं पुराकाल एव, अपितु अद्यावधि संस्कृतभाषायाः सजीवत्वम्, व्यवहृतित्वं च साधयन्ति ।

समाजे संस्कृतस्यावनदानम् तन्महत्वं न केवलं भारतीयैरेव अपितु पाश्चात्त्यैरपि साह्लादमङ्गीक्रियते। विश्वस्य प्राचीनतनं साहित्यमत्रैवोपलभ्यते । विश्वस्य प्राचीनतमायाः संस्कृतेः सभ्यतायाश्च यथार्थावगमाय संस्कृतमेवैकं साधनम् । विश्वसंस्कृतेराधारशिला संस्कृतवाङ्मये एव प्राप्यते । तन्मूलकमेव संस्कृते ज्ञानविज्ञान-कला-संस्कृति-धर्म-दर्शन-अर्थशास्त्र-व्याकरण-काव्यशास्त्र-आयुर्वेदादि-विषयेषु यथा विपुलं प्राचीनं वाङ्मयमुपलभ्यते न तावदन्यत्र कस्यामपि भाषायाम् ।

मानवजातिविकासाध्ययनार्थं मूलस्त्रोतस्त्वेन भारतीयं वाङ्मयं गुरुतरम् । धर्मदर्शनयोः क्षेत्रे संस्कृतस्य उत्कर्षः सर्वातिशायी । अध्यात्मशास्त्रानुशीलनाय, काव्यतत्त्वज्ञानाय, नीतितत्त्वावबोधाय, आचारशिक्षासंग्रहाय, प्राचीनविधानज्ञानाय, गणित-ज्योतिष-अर्थशास्त्र-कामशास्त्र-सङ्गीतनृत्याभिनयादिकलानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मज्ञानाय संस्कृतवाङ्मयमेवैकं शरणम् । विश्वप्रेम-विश्वबन्धुत्व-विश्वसंस्कृत्यादीनाम् आधारतत्त्वज्ञानार्थं संस्कृतस्यावदानम् न केनापि तिरोहितम् ।गीर्वाणगिरो माधुर्यं कस्य न सचेतसश्चेत आवर्जयति । कालिदास-माघ-श्रीहर्ष-जयदेवादीनां काव्यानि प्रतिपदं माधुर्योपेतानि, सङ्गीतात्मकानि, लालित्यवन्ति च सन्ति । देववाण्या माधुर्यगुणमुग्धा एव सरविलियमजोंसगेटे प्रभृतयः पाश्चात्त्या विपश्चितोऽपि तद्गुणानुवादपरा अभूवन् । 'मेघे माघे गतं वयः''मधुरकोमलकान्तपदावलीं श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्'[3] इत्यादय आभाणकाः कालिदासमाघजयदेवादीनां पदमाधुर्यं मनोज्ञत्वं सहृदयास्वाद्यत्वं च पुष्णन्ति । भारते तु न केवलं विज्ञापुरुषा एवापितु रसास्वादप्रवणा ललना अपि संस्कृताध्ययनं व्यदधुः । आकर्ण्यते यद् मण्डनपण्डितभवनविषये पृष्टा नार्यः तमेवमूचुः –

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निविष्टा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ।।

संस्कृतभाषैव अध्यात्मज्योतिःप्रदा, आचारशास्त्रशिक्षिका, सामाजिकसद्भावनाया मूला, जीवनोन्नतिकारिणी, ज्ञानाग्निना मोहान्धतमोविनाशिका, सत्पथप्रदर्शिका काचिदनुत्तमा शक्तिः । अध्यात्मदृशा तत्त्वार्थदीपिका, व्यवहारदृशा च वृत्तिसाहाय्यमाचरन्ती कर्तव्योद्बोधन-परा ।भारतस्य तु भाषैषा सांस्कृतिको निधिः। निखिलमपि सांस्कृतिकं वाङ्मयं संस्कृतमाश्रित्यैवावतिष्ठते। विश्वसंस्कृतिपरिज्ञानार्थमपि संस्कृतभाषा अपरिहार्या । तुलनात्मकसंस्कृतिविचारे संस्कृतभाषैव साहाय्यमाचरति । संस्कृतभाषाश्रयैव संस्कृतिः सुदूरपूर्ववर्तिषु ब्रह्मदेश-श्याम-यव-सुमात्रादि-द्वीपेषु प्रचचार । अमेरिका-यूरोपदेशस्थ-संस्कृतिष्वपि एतस्या अक्षयः प्रभावः परिलक्ष्यते । धर्मार्थिकाममोक्षात्मकपुरुषार्थचतुष्टयस्य साधनं संस्कृतवाङ्मयमेव । प्रागैतिहासिकतत्त्वावबोधाय संस्कृतमेवैकं शरणम् । भारोपीयसंस्कृतेः प्राचीनतमरूपावगमाय संस्कृतं विहाय नान्या गतिः । संस्कृतावाङ्मयाश्रयेणैव पाश्चात्त्यपौरस्त्यसंस्कृत्योः समन्वयः, सम्पर्कः, सङ्गतिश्चावगम्यते ।भारतीयसंस्कृतेः विशुद्धरूपज्ञानाय संस्कृतवाङ्मयमेवैकं साधनम् । जैनबौद्धचार्वाकादिसंस्कृतयोऽपि संस्कृतभाषाश्रया एव ।भारतस्य सामाजिकसद्भावना, सर्वाङ्गीणा समुन्नतिः, सर्वसुखदो विकासश्च संस्कृते एव सन्निहिताः सन्ति । वैदिकसाहित्याद् उद्भूता सेयं संस्कृतभाषापरम्परा अद्यावधि जीवतितमाम् । अद्यत्वेऽपि संस्कृतसाहित्यं, काव्यानि, नाटकानि, गीतिकाव्यानि, गद्यसाहित्यम्, विविधाः पत्रपत्रिकाश्च प्रतिसंवत्सरं प्रकाश्यन्ते, सहस्रशो लक्षशश्च तेषामध्येतारो दरीदृश्यन्ते । अक्षयोऽयं निधिः सर्वथा सर्वदा च अध्येयोऽनुशीलनीयः, सम्मान्यो विकासनीयश्च । उक्तञ्च –

सुवर्णा सद्वृत्ता विविधललितालङ्कृतिचणा,गुणाढ्या निर्दोषा विबुंधनिवहाराधितपदा ।

सुरीतिप्रख्याता भवविभवरुपाश्रितरसा,सदेयं शर्वाणी जयतु सुरवाणीह सततम् ।।

'सर्वभूतेषु चात्मानम्''आत्मवत् सर्वभूतेषु' इत्यादीनि वाक्यानि भारतीयानां विश्वजनीनं दृष्टिकोणं उदारतां च उद्घोषयन्ति । अनेनैव भारते विविधतायामपि सांस्कृतिकी एकता वर्तते । उदारतयैव सहिष्णुतायाः सामाजिकसद्भावनाया अहिंसायाश्च तत्त्वं भारतीयसंस्कृतौ समाविष्टम् । 'सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्' इत्येव भारतीयानां मान्यता । वस्तुतस्तु नैमान् विना जीवनं सुखशान्तिपूर्णं स्यात् ।

सामाजिकसद्भावनयासह संस्कृतिसंरक्षणेऽपि पर्याप्तं साहाय्यं एतेन प्रदत्तम् । एतादृशां सरस्वतीसेवकानां परिश्रमस्यैवेदं फलं यद् अस्माकंसंस्कृतिरद्याप्यक्षुण्णा । 'सुगा ऋतस्य पथाः'[4] 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरत्[5] 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः [6] 'शतहस्तः समाहार सहस्रहस्तः संकिर'[7] 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति',जीवमात्रे एकस्यैव

चैतन्यस्य सञ्चारो भवति । प्राणिमात्रेण परस्परं सुसम्पृक्तेन भवितव्यम् । अस्या भावनायाः प्रेरकस्य अथर्ववेदस्य ऋषेर्वाक्यमिदं वर्तमानकालिकमनुष्येभ्य आदर्शवाक्यमस्ति –सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।[8]अन्योन्यमभिनववत्सं जातमिवाघ्न्याः ।। **'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्** ।'[9] गुणग्राहकैः स्वयमेव गुणिनः अन्विष्यन्ते । यदा संसारस्य अन्ये देशाः असभ्याचरणं कुर्वन्ति तदा सभ्यतायाः उच्चशिखरारूढमस्माकं संस्कृतं वैदेशिकेम्योऽपि शिक्षां ददाति स्म । यथोक्तम्- एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।[10]

संस्कृतेन संस्कृतस्यावदानेन सर्वा अपि विषमताः, सर्वोऽपि असन्तोषः ,सर्वाप्यशान्तिः, सर्वाण्यपि दुःखानि, सर्वापि दुरवस्था, सामाजिकसद्भावनाबलेन क्रमशः समतासन्तोषशान्तिसुव्यवस्थासु परिणताः भविष्यन्ति । एतादृशं संस्कृतं यस्मिन् देशे समाजे च विद्यते तस्मिन्देशे न किमपि वैषम्यं, न कापि कटुता भवति, अपि तु सर्वेषामपिसमृद्धिसुखशान्तिस्नेहादीनां बाहुल्यं भवति । सामाजिकसद्भावनायां संस्कृतस्यावदानेन सर्वेऽपि देशसेविनः, देशभक्ताः, राष्ट्रभक्ताश्च भविष्यन्तीति प्रत्येमि।

सन्दर्भसङ्केतः –

1. कपिलस्य
2. वाल्मीकि रा. सुन्दरकाण्डम् 30.17
3. गीतगोविन्दम् 1.3
4. ऋग्वेदः 8/3/13
5. ऋग्वेदः 9/73/01
6. ऋग्वेदः 4/33/11
7. अथर्ववेदः 3/24/4
8. अथर्वपिप्पलादः 5/19/01
9. कुमारसम्भवस्य पञ्चमे सर्गे
10. मनुस्मृतिः

स्नातकोत्तर धर्मशास्त्रविभागाध्यक्षः
कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालयः,
कामेश्वरनगरम्, दरभंगा (बिहारः)

वर्तुलाकाराया धरायाः समत्वदर्शने सैद्धान्तिकं चिन्तनम्

✍प्रो.हंसधरझाः

धरेयं वर्तुलाकारेति नाविदितं विज्ञैः। नैव भूरेव किन्तु समग्रं ब्रह्माण्डमेव वर्तुलाकारम्। यथोपदिशति भगवान् सूर्यांशपुरुषः मयासुरं प्रति-

ब्रह्माण्डमेतत् सुषिरं तत्रेदं भूर्भुवादिकम्।
कटाहद्वितस्येव सम्पुटं गोलकाकृतिः।। इत्यादि।

पुनश्च सूर्यसिद्धान्ते भुवः स्थितिवर्णनप्रसंगे भगवान् सूर्यांशपुरुषः भुवं भूगोलशब्देनैवाख्यातम्। यथा[1]-

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्।। इति।

पुनरपि तत्रैव[2]-

भूगोलमध्यगो मेरुरुभयत्र विनिर्गतः।। इति।

इदमेव कारणं यद् भूरियं लोके भूगोलेतिनाम्नापि प्रथितमस्ति। अतो नास्त्यत्र सन्देहावसरो यद्धरेयं वर्तुलाकारा गोलकाकृतिर्वेति।तत्र हि गोलकाकृतिरियं धरा लोकैः कथं समतला दृश्यत इति स्वाभाविकः प्रश्नः।

तत्र नाविदितं सैद्धान्तिकैर्गणितज्ञैर्वा यत् कस्यापि वृत्तस्य षण्णवत्यंशो भागो न हि वृत्ताकारो किन्तु दण्डाकारो दृश्यते। यथोक्तमपि शाकल्यमुनिना[3]- "वृत्तस्य षण्णवत्यंशो$\frac{1}{96}$ दण्डवद्दृश्यते तु सः" इति। भुवः परिणाहः अत्यन्तं महान्। किन्तु पृथिव्याः परिणाहापेक्षया नरो नितरां लघुकायः। तत्र लघुकायत्वात् मानवः पृथिव्या अत्यल्पं भागमेव द्रष्टुं समर्थः भवति । यथोक्तमपि सूर्यांशपुरुषेण-

अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात् सर्वतोमुखम्।
पश्यन्ति वृत्तामप्येनां चक्राकारां वसुन्धराम्।।

आशयः स्पष्टो विद्यते, भूपृष्ठनिवासिजनाः अतिलघुशरीरतया स्वस्थानात् चतुर्दिक्षु गोलाकारामपि वसुन्धरां दर्पणोदरवत् समतलां पश्यन्ति। तत्र कारणं स्पष्टं यत् उपर्युक्तशाकल्योक्तवचनात् भुवः शतांशादल्पे दृश्यभागे वक्रतासम्भवो न भवतीतिहेतोः नरः गोलाकारामपि वसुन्धरां चक्रवत्(समतलां) पश्यन्तीति युक्तमेव। अत्र भास्करवचनमपि तथैव द्रष्टुं शक्यते[4]-

समो यतः स्यात् परिधेः शतांशः पृथ्वी पृथ्वी नितरां तनीयान्।
नरश्च, तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।। इति।

वस्तुतोऽत्र भुवः शतांशः शतांशाल्पो वाऽवलोक्यत इत्यत्र किं प्रमाणम् ? किं वाऽर्षवचनमेव प्रमाणम् उत वा गाणितिकं प्रमाणम् ? तदत्रोपस्थाप्यते प्रतीत्यर्थं गाणितिकप्रमाणरूपेण दृश्यभूभागगणितमेव। यथा-

---

[1]सूर्यसिद्धान्तः 12/32

[2]सूर्यसिद्धान्तः 12/34

[3]सूर्यसिद्धान्तः 2/15, श्रीतत्त्वामृतभाष्ये।

[4]सिद्धान्तशिरोमणिः, गोलाध्यायः, भुवनकोशः, श्लो. 13

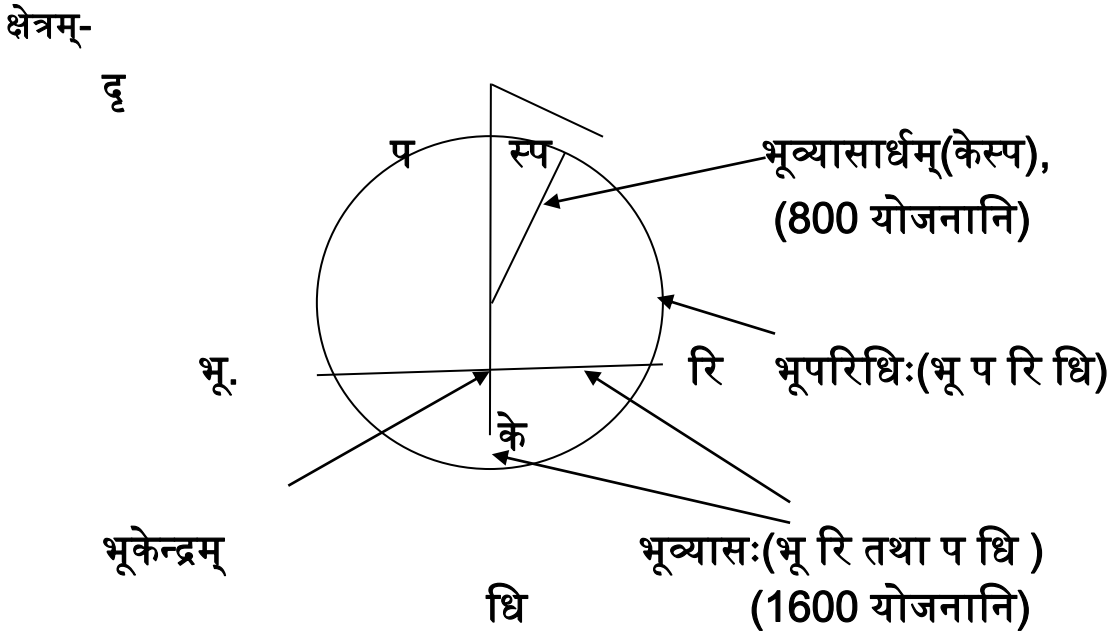

अत्र भूपृष्ठगतस्य दृष्टिस्थानाद् भूबिम्बस्य समन्तात् स्पर्शरेखान्तर्गतः भूभागः दृश्यभागः, तन्मानज्ञानार्थं प्रयासः।

क्षेत्रे 'प' भूपृष्ठोपरि स्थितनरस्योच्छ्रितिः= पदृ = 4 हस्ताः। 'दृ' दृष्टिस्थानाद् भूबिम्बस्य कृता स्पर्शरेखा स्प बिन्दौ लग्ना। तेन दृस्प = स्पर्शरेखा। केस्प = भूव्यासार्धम्। अथ केदृस्प = जात्यत्रिभुजम्। यतः दृस्पके कोणः = 90^0 (रे.ग. अ.3, प्र.17) तेन $\sqrt{\text{केदृ}^2 - \text{केस्प}^2}$= दृस्प भवितुमर्हति। परञ्च केदृ = केप+पदृ =भूव्या$\frac{1}{2}$+ दृगुच्छ्रितिः। तथा केस्प = भूव्यासार्धम्। दृगुच्छ्रितिः = 4 हस्ताः।

अथ **"योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि"** इति[5] सूर्यसिद्धान्तवचनात् भूव्या$\frac{1}{2}$= 800 योजनानि। एकस्मिन् योजने चत्वारः क्रोशाः। प्रतिक्रोशं सहस्रद्वयदण्डाः। प्रतिदण्डं च चत्वारो हस्ताः। अतो भूव्यासार्धहस्ताः = 800 × 4 × 2000 × 4 = 25,60,00,00 भवन्ति।

यतो हि, केदृ =भूव्या$\frac{1}{2}$+ दृगुच्छ्रितिः = 25,60,00,00 + 4 = 25,60,00,04 हस्ताः।

तथा, केस्प = 25,60,00,00 हस्ताः।

अतः, दृस्प =$\sqrt{\text{केदृ}^2 - \text{केस्प}^2}$=$\sqrt{(25,60,00,04)^2 - (25,60,00,00)^2}$=$\sqrt{204800016}$ स्वल्पान्तरात् 14311 लभ्यते। अर्थात् दृस्प = 14311 हस्ताः सिद्धाः।

अथ एतस्य चापात्मकज्ञानार्थं 'केदृस्प' त्रिभुजे यदि 25600004 हस्तमितया 'केदृ' कर्णरेखया तत्सम्मुखकोणज्या (ज्याLकेस्पदृ) त्रिज्या 3438 लभ्यते दृस्प भुजरेखया 14311 हस्तमितया

[5]सूर्यसिद्धान्तः, म.अ.श्लो.59

किमिति अनुपातेन तत्सम्मुखकोणज्या (ज्याLदृकेस्प) =$\frac{\text{त्रि}\times\text{दृस्प}}{\text{केदृ}} = \frac{3438\times14311}{25600004} = 2^{\text{।}}$ स्वल्पान्तरात्। एतच्चापं 'स्पप' तुल्यम्। तत्परमाल्पत्वात् 2। तुल्मेव।

पुनरस्य योजनात्मकमानज्ञानार्थमनुपातः। यदि चक्रकलाभिः भूपरिणाहयोजनानि लभ्यन्ते तदा भुवो दृश्यभागकलाभिः किमिति फलं भुवो दृश्यभागयोजनमितिः =$\frac{\text{केप}\times2}{21600} = \frac{\text{भूप}}{10800}$।एतेन भूपृष्ठगतनरस्य भूदृश्यभागमानं भूपरिधेः अयुतांशतोऽपि अल्पं सिद्ध्यति, अतः "वृत्तस्य षण्णवत्यंशो$\frac{1}{96}$ दण्डवत् परिदृश्यते " इति शाकल्यवचनानुसारं गणितागतो भूदृश्यभागः 'पस्प' नितरां सरलाकारो भवेत्। अतः 'प' स्वस्थानात् 'पस्प' सरलरेखारूपव्यासार्धेनोत्पन्नं वृत्तं दृश्यक्षितिजं सरलाकारं भवेदिति किं चित्रम्।।

।। इति शम् ।।

सन्दर्भग्रन्थाः-

1.सिद्धान्ततत्त्वविवेकः
2शिष्यधीवृद्धितन्त्रम्
3ब्राम्हस्फूटसिद्धान्तः
4सरलत्रिकोणमितिः
5रेखागणितम्(एकादशाध्याय)
6 सूर्यसिद्धान्तः (विज्ञानभाष्य)
7सूर्यसिद्धान्तः (श्रीतत्त्वामृतभाष्यम्)
8सिद्धान्तशिरोमणिः
9लीलावती
10गोलपरिभाषा

लेखकसङ्केतः-
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्(मानितविश्वविद्यालयः)
भोपालपरिसरः, भोपालम्, मध्यप्रदेशः।।

वेदेषु ग्रहणविमर्शः

✍डॉ. अशोकथपलियालः

प्राचीनकालादेव मानवः आकाशनिरीक्षणं प्रति समुत्सुको दृश्यते। वैदिक-ऋषिभिरपि कौतूहलेन आकाशीयग्रह- तारकाणां गतिस्थितिविषये अध्ययनमारब्धम्। खगोले ग्रहनक्षत्राणां दैनन्दिनं दर्शनातिरिक्तमपि केचन आश्चर्योत्पादकाः चमत्काराः यदा कदा दृश्यन्ते । तेषु धूमकेतूल्कापातादय अनेका आश्चर्यजनकघटनाः न केवलं विस्मयोत्पादकाः अपितु अबोधजनानां मनसि भयमप्युत्पादयन्ति। अस्माकमृषयः आचार्याश्च ग्रहनक्षत्रादीनामध्ययनेन सह तासामपि सततं वेधं कृतवन्तः। प्राचीनभारतीयवाङ्मये अनेकेषु स्थलेषूल्कापातधूमकेत्वादीनां वर्णनमस्य प्रमाणम्। तासु खगोलीयाश्चर्यजनकघटनासु ग्रहणमन्यतमम्। कस्यापि खगोलपिण्डस्य दर्शने अपरखगोल- पदार्थेन कृतं व्यवधानमेव ग्रहणम्। पृथिवीतः दृश्यमानं ग्रहणं तु द्विविधम् - सूर्यग्रहणं चन्द्रग्रहणं चेति। सूर्यस्य दर्शने चन्द्रकृतव्यवधानं सूर्यग्रहणम्। यदा च चन्द्रस्य दर्शने भूच्छाया बाधामुत्पादयति तदा तु चन्द्रग्रहणमिति स्पष्टमेव। वैदिककाले ग्रहणस्य ज्ञानमुन्नतावस्थायामासीत्। वेदेषु ज्योतिषशास्त्रस्य बीजमेव लभ्यते न तु तस्य व्याख्यानम्। अतः ग्रहणविषयेऽपि यद्यपि तत्र सूक्ष्मदृष्टिः न प्राप्यते परन्तु यज्ञधर्मदर्शनादिविषयाणां विवेचनसमये प्रसङ्गवशादेव ग्रहणस्य यत्किंचिदपि वर्णनमुपलभ्यते तत्सर्वं तज्ज्ञत्वस्य प्रमाणम्। सूर्यग्रहणं त्वमावस्यायां तथा च चन्द्रग्रहणं पौर्णमास्यां भवतीति वैदिक-ऋषिभिः परिज्ञातमेवासीत्। अमावस्यायां सूर्याचन्द्रौ एकस्मिन्नेव राश्यादिके स्थितौ भवत इति ज्ञात्वा तत्र भणितमस्ति-**चन्द्रमा अमावस्यायामादित्यमनुप्रविशति..... आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।।**[1]अतः सूर्यग्रहणस्य कारकेषु चन्द्रोऽपि महत्त्वपूर्णमस्तीति सम्भवतः तदा ज्ञातमासीत्। ऋग्वेदेसूर्यग्रहणस्य विषये किंचिद्विशिष्टवर्णनं समुपलभ्यते।यथा **-यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।अक्षेत्रविद्यथामुग्धो भुवनान्यदीधयुः।।स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्त्तमाना अवाहन्।गूळहं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः।।मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा।।ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्।।यं वै सूर्यं स्वभानुस्तमसाविध्यदासुरः।अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।**[2]उपर्युक्तमंत्रस्यानुशीलनेन निम्नबिन्दवः समुत्पद्यन्ते-

1. अत्र स्वर्भानुः सूर्यं तमसा आच्छादितवान् अर्थात् राहुः सूर्यग्रहणस्य कारक इति वर्णितमस्ति। अनेन स्पष्टं यत् राहुकृतग्रहणस्य कल्पना वैदिककालादेव दृश्यते । कल्पनेयं लाक्षणिकरूपा। वस्तुतः यदा क्रान्तिवृत्तचन्द्रविमण्डलयोः सम्पातयोरासन्नप्रदेशे (राहुकेतुसंज्ञकपातयोः सन्निकटः) सूर्याचन्द्रौ भूमण्डलेन दृश्येते तदैव ग्रहणस्य सम्भावना भवति। 'स्वर्भानु तमसा विध्यदासुरः' इत्यनेन स्वर्भानोस्तमसश्च पार्थक्यमपि सिध्यति। यद्यपि ज्योतिषशास्त्रस्य जातकग्रन्थेषु प्रायः राहुकृत एव तमश्शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते।

2. उपर्युक्तमंत्रे खग्राससूर्यग्रहणस्य वर्णनं प्रतीयते। यतः खग्रासग्रहणे एव जनाः स्वस्थानं विस्मृत्य मुग्धाः स्तब्धाश्च भवितुं शक्नुवन्ति। तदा अकस्मात् दिवसकाले एव निशासदृशः अन्धकारः लभ्यते। इदं खग्रासग्रहणमत्यल्पं यदा कदा एव च भवति। परन्त्वत्र वर्णितं खग्रासग्रहणमत्यन्तं भीतिदर्शकं

विस्मयोत्पादकं वा नास्ति। अनेन अनुमीयते यत्तस्मिन्काले जनाः ग्रहणविषये पूर्वपरिचिता आसन्। शंकरबालकृष्णदीक्षितप्रभृतयः[3] विद्वांसः तथैवामनन्तीति।

3. इन्द्र! त्वं स्वर्भानोः मायायाः ध्वंसकः इति वर्णनेनानुमीयते यत् तदा ग्रहणकालविषये इन्द्रोऽपि किंचिज्ज्ञानं अवश्यमेव धारयति स्म परन्तु तुरीयब्रह्मणा अत्रिः तमाच्छादितं सूर्यं प्राप्तवानिति वर्णनेन स्पष्टं यत् केवलं अत्रिकृतग्रहणस्य स्पर्शमोक्षादिकालस्योद्घोषणा एव सफला जाता। सम्भवतः इन्द्रः अत्रेः ग्रहणकालानयने सहायतामकरोत् परन्तु ग्रहणगणिते अत्रेः एव वैदुष्यं, तस्य ग्रहणगणितस्य दृगैक्यता च सिध्यति। मन्त्रस्यान्तिमेऽपि कथितं यत् अत्रयस्तम् अवविन्दन् इह अन्ये अशक्नुवन् अर्थात् अत्रीणामतिरिक्तं अन्यः कश्चन स्पर्शादिकालानयने समर्थः नाभवत्। अत्रय इति बहुवचनप्रयोगेण अत्रिकुलोत्पन्नानां विदुषाम् अत्रिशिष्याणां चाभिप्रायः दृश्यते। सम्भवतः तदा अत्रिगुरुकुलस्य ज्योतिर्गणितविषये प्रसिद्धिरासीत्।

4. तत्रात्रिगुरुकुले ग्रहगणितस्य दृगैक्यता ज्ञानार्थं वेधशालायां यन्त्रादीनां प्रयोगः भवति स्मेति सम्भावना प्रबला अस्ति यतः तुरीयब्रह्म शब्दस्यात्र प्रयोगः दृश्यते। शब्दस्यास्य प्रथमोऽभिप्रायः यत् समाध्यवस्थायां अत्रिणा 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' इत्यनुसारं ग्रहणकालादिज्ञानं प्राप्तम् । अपरोऽभिप्रायो यत् तुरीययन्त्रेण अत्रिणा ग्रहणकालादिज्ञानं कृतम्। ज्योतिषशास्त्रेऽपि तुरीययन्त्रस्य प्रयोगो भवति। अनेन ग्रहस्य नतांशादीनां साधनं क्रियते। उभौ आशयौ समीचीनौ दृश्येते परन्तु द्वितीयाशयस्य सम्भावनाधिका यतः अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत् अर्थात् आकाशे सूर्यस्य प्रकाशस्थाने अत्रिः चक्षुं स्थापयित्वा स्वर्भानोः मायाम् अघुक्षत् इत्यनेन वेधप्रक्रियायाः वर्णनं परिलक्ष्यते। **ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः** इत्यत्र प्रस्तरवेधशालायाः योजना सम्भाव्यते। प्रसंगेऽस्मिन् दाहालमहोदयस्य विचारोऽस्ति यत्- "अत्र हि सूर्यस्य राहुणाऽऽच्छादनमुक्तम्। तस्य चात्रिणा प्रकाशनं जनेषु। चन्द्रमा हि अत्रेर्नेत्रसमुत्थत्वेन स्मर्यते 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' इत्यादौ। तेन हि 'अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुरागात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत्' इति कथनेन चन्द्रपातस्य द्वितीयस्य संकेतोऽत्र लभ्यते। पश्चाद्वर्तिशास्त्रेषु राहुकेतुशब्दो पर्यायत्वेन निर्विशेषमपि प्रयुक्तौ दृश्येते। अत्र हि खग्रास- सूर्यग्रहणस्य प्रसंगो दृश्यते यद्धि यदा कदैव घटते। सूर्यग्रहणं ह्यमावास्यायामेव भवति। ऐतरेय ब्राह्मणे हि अमावस्यायां चन्द्रः सूर्यं प्रविशतीत्युक्तमपि दृश्यते। तेन हि सूर्यग्रहणं हि चन्द्रमसा सह सम्बद्धं भवतीति तदाऽपि ज्ञातमासीत्"।[4]

5. अत्र कुत्रापि न वर्णितं यत् स्वर्भानुः अर्थात् राहुः सूर्यमग्रसदिति। यद्यपि इयं कल्पना वैदिककालादनन्तरं प्रबला जातेति।उपर्युक्तमन्त्रे स्वर्भानुरिति शब्दस्यार्थं चन्द्रं मत्वा पं0 रघुनन्दनशर्ममहोदयस्य मतमस्ति यदत्र मन्त्रस्यार्थः ' हे सूर्य ! त्वां चन्द्रः येनांधकारेण आवृतं करोति, तेन रेखागणितानभिज्ञजनाः मुग्धाः भवन्ति ' इति।[5] स्वर्भानुरिति शब्दस्यार्थः चन्द्रः मया कोषादिग्रन्थेषु कुत्रापि न प्राप्तः, प्रायः अस्याशयः राहुरेव तथापि यदत्र 'अक्षेत्रविद्' शब्दस्य रेखागणितानभिज्ञः इत्यर्थः गृहीतः तत्तु समीचीनं प्रतीयते यतः रेखागणितस्यापरं नाम क्षेत्रगणितमप्यस्ति। ज्योतिषशास्त्र एव रेखागणितस्य प्रयोगो भवति अतः अक्षेत्रविदिति शब्दस्यार्थः परोक्षरूपेण ज्योतिषशास्त्रानभिज्ञोऽपि भवितुमर्हति। अपि च ज्योतिर्विद् ग्रहणस्य कारणं, तस्य कालादिकं च पूर्वमेव जानाति। अतः ग्रहणं दृष्ट्वापि तस्य मनसि भयं

नोत्पद्यते। ऋषिरत्रिरस्य प्रत्यक्षमुदाहरणमस्ति।एवमेव ताण्ड्यब्राह्मणे पंचस्थलेषु[6] स्वर्भानुकृतसूर्यग्रहणस्य वर्णनं समुपलभ्यते। तेषु द्वयोः स्थलयोः कथितमस्ति यत् अत्रिः भासा अर्थात् स्वतेजसा स्वर्भानुकृतान्धकारस्य नाशं कृतवान्। देवा अन्धकारस्य नाशका इति शेषस्थलेषु वर्णितमस्ति। गोपथब्राह्मणे[7] स्वर्भानुना कृतं सूर्यग्रहणस्य वर्णनमस्ति, यस्यापनोदनं अत्रिणा कृतम्। शतपथब्राह्मणे[8] सूर्यग्रहणे सोमरुद्राभ्यां तमोऽपनोदनं निगदितमस्ति । सम्भवतः तदा सोमरुद्राभ्यां प्रतिपादिता ग्रहणानयनपद्धतिः दृगैक्यतां धारयति स्मेति। अथर्ववेदे ग्रहणकालिकबिम्बवर्णस्य वर्णनमनुमीयते। यथा-**उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।पश्याम त्वा सवितारं यमाहूरजसा ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः।।** [9]अत्र सूर्यग्रहणकाले सूर्यबिम्बं रजसावृतं जातम्, यस्य पुनरात्रिः अत्रिणाऽभवदिति वर्णितं दृश्यते। अर्थात् ग्रहणे सूर्यबिम्बं कृष्णवर्णः। तथैव प्रत्यक्षोपलब्धिरपि। ताण्ड्यब्राह्मणे ग्रहणबिम्बस्य वर्णविषये निम्नाख्यानं प्राप्यते -**स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाविध्यत्तं देवा न व्यजानँस्तेऽत्रिमुपधावँस्तस्यात्रिर्भासा तमोपाहन्यत् प्रथममपाहन् सा कृष्णाविरभवद्यदद्वितीयं सा रजता यत्तृतीयं सा लोहिनी यया वर्णमभ्यतृणत्सा शुक्लासीत्।।** [10]

उपर्युक्तवर्णनं ग्रहणस्य कालज्ञाने देवानामसमर्थतां प्रदर्शयति । यदा ते अत्रेः पार्श्वे गत्वा प्रार्थितवन्तः तदा अत्रिः स्वभासा तमोपाहन्यदर्थात् स्वग्रहणगणितज्ञानेन मोक्षादिकाल- मुक्तवान् । सर्वप्रथमं अत्रिणा बिम्बस्य कृष्णवर्णं दूरीकृतम्। तदनन्तरं रजोयुक्तः, तत्पश्चाच्च लोहितः बिम्बवर्णः जातः। ग्रहणानन्तरं बिम्बवर्णः शुक्लोऽभवत्। वर्णनमिदं पूर्णचन्द्रग्रहणे चन्द्रबिम्बस्य वर्णानां सम्भाव्यते यतोहि चन्द्रग्रहणमध्यकाले अर्धाधिकग्रासे बिम्बः कृष्णवर्णः, अर्धाल्पग्रासे रजोयुक्तः अर्थात् धूम्रवर्णः, मोक्षकालतः प्राक् लोहितवर्णः, ग्रहणस्य मोक्षकाले च शुक्लवर्णो दृश्यते। अतः प्रथमं तेन ग्रहणमध्यकालसमाप्तिज्ञानं कृतम्। तदोन्मीलनकालस्य तत्पश्चाच्च मोक्षकालज्ञानं कृतमिति। वस्तुतः वर्णद्वयसंयोगेन अपरो वर्ण उत्पद्यते। चन्द्रग्रहणे ग्राह्यग्राहकयोरेककक्षत्वात् वर्णयोर्योगेन अपरः नूतनवर्णः दृश्यते। तत्र भूच्छाया कृष्णवर्णा चन्द्रश्च शुक्लवर्णः। यदार्धाधिकग्रासस्तदा चन्द्रबिम्बे शुक्लभागो न्यूनः कृष्णांशोऽधिकः। अतश्चन्द्रः कृष्णवर्णस्य परिलक्ष्यते। यदाल्पग्रासस्तदा कृष्णभागो न्यूनः श्वेतांशोऽधिकः। अतस्तदा कृष्णश्वेतवर्णयोः संयोगेन धूम्रवर्णो दृश्यते। मोक्षोन्मुखं चन्द्रबिम्बं सूर्यस्य कानिचन किरणानि स्पृशन्ति फलतः तस्मिन् काले बिम्बस्य वर्णः ईषद्रक्तत्वयुक्तः कृष्णः अर्थात् लोहितवर्णः दृश्यते। मोक्षादनन्तरं चन्द्रबिम्बं शुक्लतां धारयति। सूर्यसिद्धान्तेऽपि प्रायः एतादृशमेव वर्णनं लभ्यते।यथा चन्द्रग्रहणे चन्द्रबिम्बस्य वर्णः-**अर्धादूनं सधूम्रं स्यात् कृष्णमर्धाधिके भवेत्।विमुंचतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे।।**[11]परन्तु ऋचः पूर्वार्धे स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसा- विध्यतदिति वर्णनमस्ति अर्थादत्र सूर्यग्रहणस्य चर्चा अस्तीति स्पष्टं संलक्ष्यते। ततः कथं पूर्वे चन्द्रग्रहणे चन्द्रबिम्बवर्णवर्णनस्य सम्भावना प्रकटीकृता। सत्यं, परन्तु सूर्यग्रहणे एतादृशी स्थितिः न भवति यतः तत्र ग्राह्यग्राहकौ विभिन्नकक्षौ भवतः। अतस्तद्वर्णयोः संयोगो न भवति । येन सूर्यग्रहणे सूर्यबिम्बं सदा कृष्णं भवति। यथोक्तं ग्रहलाघवे -**धूम्रः कृष्णः पिंगलोऽल्पार्धसर्वग्रस्तश्चन्द्रोऽर्कस्तु कृष्णः सदैव।।**[12]अपि च सम्भाव्यते यत् सूर्यग्रहणकालस्य पक्षानन्तरं यच्चन्द्रग्रहणं दृश्यमानमभवत्तस्यापि सहैव वर्णनमत्राभवत्। वेदेषु कुत्रचित् स्थलेषु देवाः ग्रहणान्धकारस्य नाशकाः कथिताः सन्ति। अत्र वर्णितं यत् ते देवा न व्यजानन्। तत्र देवशब्दस्याभिप्रायः सूर्यरश्मिरिति दीक्षितमहोदयस्य मतमस्ति।[13] सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः[14]अर्थात् चन्द्रः

सूर्यकिरणैः प्रकाशितं भवति। यतः चन्द्रग्रहणकाले सूर्यकिरणैः चन्द्रः न प्राप्तः, अतः रात्रौ अप्रत्यक्षसूर्यं स्वर्भानुः तमसावृतमकरोदिति कल्पना सम्भवतः तदा जाता। भूच्छाया चन्द्रमाच्छादयतीति ज्ञानं सम्भवतः तदा नासीत्। वैदिकवाङ्मये स्पष्टरूपेण चन्द्रग्रहणस्य वर्णनं कुत्रापि न प्राप्यते। यदि वैदिकजनाः सूर्यग्रहणस्य विषये पर्याप्तज्ञानं धारयन्ति स्म तदा कथं सम्भाव्यते यत् ते चन्द्रग्रहणस्य विषये अनभिज्ञाः आसन्? वस्तुतः ग्रहणस्य कारणं तस्य स्पर्शमोक्षादिकालविषयेऽपि च वैदिककाले सुदृढं ज्ञानमासीत्। सूर्यं स्वर्भानुः तमसा विदध्यादर्थात् राहुः सूर्यग्रहणस्य कारक इति राहुकृत- ग्रहणस्य कल्पना वैदिककालादेव दृश्यते। 'स्वर्भानुः तमसा विध्यदासुरः' इत्यनेन स्वर्भानोस्तमसश्च पार्थक्यमपि सिध्यति। सम्भवतः तदा अत्रिकुलोत्पन्नानां विदुषाम् अत्रिशिष्याणां वा ग्रहणगणितं दृगैक्यतां धारयति स्म। ग्रहणकाले ग्रहबिम्बस्य वर्णकथनं ग्रहणस्य सूक्ष्माध्ययनस्य निरीक्षणस्य च परिचयं ददाति। यद्यपि वेदेषु ग्रहणविषये सूक्ष्मविवेचनं नोपलभ्यते तथापि तत्रोपलब्धोल्लेख एव तज्ज्ञत्वस्य प्रमाणभूतः। वैदिककाले ग्रहगणितज्ञस्य समाजे सुप्रतिष्ठाऽऽसीत्। अतएव "प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्[15]" "यादसे गणकम्[16]" इत्यादयः वेदेषूपलभ्यन्ते। वस्तुतः वेदेषु समस्तज्ञानविज्ञानस्य मूलत्त्वं प्राप्यते। अत एव वेदानां वेदत्वमिति।

पादटिप्पणी -

1. ऐ.ब्रा. 40/5
2. ऋ. सं. 5/40/5-9
3. भा.ज्यो.-दीक्षित (हि.अनु.) पृ.84-85
4. उद्धृतं भा. ज्यो. इति.-दाहालः पृ. 33, 34
5. वैदिक सम्पत्ति - पं रघुनन्दनशर्मा पृ0 330-331
6. ता. ब्रा., 6/6/8, 14/11/14,15 , 4/5/2 , 4/6/13 एवं 23/16/2
7. गो. ब्रा. 8/19
8. श. ब्रा. 5/3/22
9. अ.सं. 13/2/2/36
10. ता. ब्रा. 6/6/8
11. सूर्यसिद्धान्त छेद्यकाधिकार श्लोक 23
12. ग्रहलाघव सूर्यग्रहणाधिकारः श्लोक 6।
13. भा.ज्यो.-दीक्षित (हि.अनु.) पृ.85
14. तै.सं. 3/4/7/1
15. वा.सं. 30/10
16. तत्रैव 30/20

ज्योतिषव्याख्याता (असि0प्रो0)
रा. सं. सं.भोपालनगरम्, मध्यप्रदेशः

कारकविवेचनम्

✍डॉ. धनुर्धरझाः

क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्यर्थस्वीकरणे सति देवदत्तस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीत्यत्र देवदत्तस्यापि कारकत्वं स्यात्। साक्षात्क्रियान्वयित्वमिति स्वीकरणे मातुः स्मरत्यत्र मातुरित्यस्यापि कारकत्वं स्यादतः क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वमिति लक्षणं स्वीकर्त्तव्यम्। अर्थात् क्रियोत्पादकत्वं कारकत्वमिति। यदेव क्रियोत्पत्तौ कारणं तदेव कारकम्। महाभाष्ये उक्तम् – "कारकमिति महती संज्ञा क्रियते .... तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनं यथान्वर्थसंज्ञा विज्ञायेत - करोतीति कारकम्।" कारकाणि हि स्वस्वव्यापारेणावान्तरक्रियाद्वारेण वा केनापि रूपेण प्रधानक्रियोत्पत्तौ सहायकानि कारकाणि वा भवन्ति। अतः सर्वेषामेव तेषां प्रधानक्रियायामन्वयः। यथा हि पचनक्रियायादृष्ट्या पाकानुकूलव्यापाराश्रयत्वेन देवदत्तः कर्ता क्रियोत्पादकः। तण्डुलकर्मणि विक्लित्याधाररूपव्यापारः स्थाल्यादौ तण्डुलाधाररूपव्यापारः। ते हि व्यापाराः पाकक्रियोत्पत्तौ कारणानि अतस्तेष्वस्ति कारकत्वम्। वाक्यपदीयेऽप्युक्तम् – **निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके। व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः।।**कारकाणि षड् भवन्ति। तद्यथा – **कर्ता कर्म च करणञ्च सम्प्रदानन्तथैव च। अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्।।**

1. **कर्ता** – प्रकृतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्। भगवान् पाणिनिः "स्वतंत्रः कर्ता[6]" क्रियायां स्वातंत्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यादिति व्यवस्थां ददाति। यदि हि स्थालीनिष्ठव्यापारः प्रकृतपचिविवक्षितो भवति तदा स्थाल्याः स्वातंन्त्र्येण कर्तृसंज्ञा भवति, परन्तु यदि पचेर्देवदत्तादिव्यापारो विवक्षितो भवति तदा स्थाली पारतन्त्र्येणाधिकरणत्वं भजते देवदत्तस्तु कर्तृत्वं स्वातंत्र्येण। यथोक्तं महाभाष्ये – "एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतंत्रा कर्तृस्थे यत्ने कथ्यमाने परतन्त्रा[7]"। अत एवोक्तं स्वातन्त्र्यञ्च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वमिति। यस्य कस्यापि कारकस्य व्यापारस्य प्रस्तुतधातुवाच्यता तदेव कारकं कर्तेति। तेन 'स्थाली पचति' 'अग्निः पचति' 'एधांसि पचन्ति' 'तण्डुलः पच्यते स्वयमेव' इत्यादिप्रयोगाः सुसंगताः भवन्ति। 'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां तण्डुलं पचति' इत्यत्र पचिर्देवदत्तस्यैव यत्नरूपव्यापारं कथयति नान्येषामिति तस्यैव कर्तृत्वमत्र। यदि हि कथ्यते तण्डुलः पचते स्वयमेवेति तदा तण्डुलः कर्तृत्वं भजते, तस्यैव व्यापारस्य पचिवाच्यत्वात्। कर्तुर्हि पञ्चभेदाः दृश्यन्ते। तद्यथा – स्वतंत्रकर्ता, हेतुकर्ता, कर्मकर्ता, अभिहितकर्ता, अनभिहितकर्ता चेति।

2. **कर्म** – "कर्तुरीप्सिततमं कर्म[8]" इति सूत्रेण कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञकं भवति। यथा – रामः ओदनं खादत्यत्रेप्सिततममोदनम्। अत एतस्य कर्मसंज्ञा। ननु सूत्रे कर्तुरिति कथम् ? 'क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्मसंज्ञं स्यात्' इत्येवोच्यताम् ? इति चेन्न 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इत्यत्र माषपदस्यापि कर्मसंज्ञा स्यात्। अस्ति चात्र कर्मण ईप्सिता माषा नतु कर्तुः। तमब्ग्रहणाभावे च 'पयस्' शब्दादपि कर्मसंज्ञात्वेन द्वितीया स्यात्। तन्न भवतु। एतदर्थं तमब्ग्रहणं क्रियते । तथा हि पयसा ओदनं भुङ्क्ते इत्यस्य पयसा मिश्रमित्यर्थः सम्भवति। यद्यप्यत्रभोक्तुरोदन एव पयसा मिश्र उद्देश्यः, नतु केवलं पयः, नापि केवलं ओदनः। न ह्यसौ केवल पयःपानेन तुष्यति, नापि केवलौदनेन। तथापि यदा भुक्तवानेव पयोलिप्सया पुनः ओदनभोजने प्रवर्तते तदा इदं प्रत्युदाहरणम्। तत्र यद्यपि पय उद्देश्यं भुजिक्रियां प्रति, तथापि भुजिक्रियाकर्मीभूतमोदनं प्रति मिश्रणसाधनतया गुणत्वेनैव तदुद्देश्यम्, नतु भोज्यत्वेन। अतस्तत्र पयसो गुणत्वेन ओदनस्य तत्संस्कार्यतया उद्देश्यत्वात् ओदनस्यैव ईप्सिततमत्वम्, न तु पयसोऽपि। तस्मादोदन एव ईप्सिततमः, गुणेषु अस्य नानुरोध इति भावः। अत्रेदं तत्त्वम् – प्रयुक्तधातोर्यः प्रधानीभूतो व्यापारोऽर्थस्तेन साक्षात् परम्परया वा प्रस्तुतधात्वर्थरूपफलाश्रयत्वेनोद्देश्यविशेषयोग्यताशालित्वम् कर्म कथ्यते। यथा 'घटं करोति' इत्यत्र प्रस्तुतः कृधातुर्यस्य प्रधानोऽर्थ उत्पत्यनुकूलव्यापारो यत्प्रयोज्यकृधातुगौणीभूतार्थ उत्पत्तिरूपं फलम्। तदाश्रयत्वेनाभीष्टो घट इति घटस्य कर्मत्वम्। फलव्यापारौ हि धात्वर्थौ यत्र व्यापारस्य प्राधान्यं फलस्य गौणता च।

---

[6]पा.सू. 1.4.54

[7]पा.सू.1.4.23

[8]पा.सू.1.4.49

व्यापारो हि फलस्य जनकः सामान्यतः साक्षादेव क्वचित्तु परम्परयापि। जनकत्वञ्च न केवलमुत्पादकत्वमपितु प्रयोज्यत्वमपि। व्यापारस्य फलप्रयोज्यत्वेनैव गां दोग्धि पयः इत्यस्य कर्मत्वं सिध्यति तत्र धात्वर्थव्यापारस्य साक्षात्फलजनकत्वाभावात्।'प्रयागात् काशीं गच्छति' विभागस्य प्रकृतधात्वर्थाभावात् प्रयागस्य फलतावच्छेदक सम्बन्धेन पलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वाभावाच्चेति।कर्म हि सप्तविधम्। ईप्सतम्, अनीप्सितम्, ईप्सितानीप्सितम्, अकथितम्, कर्तृकर्म, अभिहितम्, अनभिहितं कर्म चेति।

3. **करणम्** – "साधकतमं करणम्[9]" सूत्रमिदं करणसंज्ञाविधायकम्। यथा – रामः वाणेन वालिं जघान। नन्वस्मिन् सूत्रे 'साधकम्' इत्येव उच्यताम्। यतः कारकाधिकारादिह कारकमिति वर्तते। साधकं कारकं हि पर्यायः, तथा चोभयोपादनेन प्रकर्षो लभ्यते। अतस्तमब् ग्रहणन्न स्यादिति चेन्न अस्मिन् कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्यायः एतत्सूत्राद् अन्यत्र न प्रवर्तते इति ज्ञापनार्थं तमब् ग्रहणम्। अन्यथा "आधारोऽधिकरणम्[10]" इत्यत्र 'अधिकरणम्' इति अन्वर्थमहासंज्ञाबलादेव आधारलाभे पुनः तमब्ग्रहणसामर्थ्यात् सर्वावयवव्याप्या य आधारः सः अधिकरणमित्यर्थः स्यात्। एवं च 'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पिः', इत्यादावेव अधिकरणसंज्ञा प्रवर्तेत 'गंगायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' इत्यादौ न स्यात् । अतः 'तमब्' ग्रहणम् कृतमिति भाष्ये निरूपितम्। तेन "साधकतमं करणम्" इति सूत्रे 'करणम्' इति महासंज्ञाबललभ्यार्थस्य अनाश्रयणात् 'साधक' पदं केवलसाधकस्यैव बोधकं नतु प्रकृष्टसाधकरूपार्थस्येति तदर्थलाभाय सूत्रे 'तमब्' ग्रहणस्य संनिवेशेन स्वांशे चरितार्थता। अयं भावः – यस्य हि स्वनिष्ठव्यापारव्यवधानेन क्रियायाः फलोत्पादकत्वं तत्कारकं हि करणम्। अयमेव "साधकतमं करणमि"ति सूत्रे साधकतमपदस्यार्थः। अत्र हि तमप्प्रत्ययः प्रकर्षबोधकः प्रकर्षत्वञ्च कारकस्य व्यवधानरहितत्वेन फलोत्पादकव्यापारयुक्तत्वमेव, तच्च कारकान्तरापेक्षया न तु स्वप्रकृतिककारकान्तरापेक्षया । यथा दण्डेन घटं करोति इत्यादौ दण्डनिष्ठव्यपारसमकालमेव घटरूपफलमुत्पद्यते इति दण्डस्य करणत्वम्। करणं द्विविधम् – वाह्यम् आभ्यन्तरञ्च।

4. **सम्प्रदानम्** – धात्वर्थभूतकर्मसम्बन्धार्थम् क्रियायामुद्देश्यभूतमर्थाद्यदुदिश्य कर्म क्रियते तत्कारकं सम्प्रदानं भवति । उद्देश्यकर्मणोः परस्परं स्वस्वामिभावज्ञेयज्ञातृभावादिसम्बन्धः। ब्राह्मणाय गां ददाति इत्यत्र दानक्रियायाः कर्म गौरुद्देश्यश्च ब्राह्मणस्तयोः सम्बन्धश्च स्वस्वामिभावाख्यः। चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयतीत्यादौ कथनक्रियायाः कर्म वार्ता उद्देश्यश्च मैत्रस्तयोः सम्बन्धश्च ज्ञेयज्ञातृभावाख्यः। तेन क्रियोद्देश्यत्वाद् ब्राह्मणमैत्रयोः सम्प्रदानत्वम्। "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्[11]" इत्यस्य विधायकं पाणिनीयं सूत्रम्। सम्प्रदानमिदंत्रिविधम् – प्रेरकमानुमन्त्रिकमनिराकतृकञ्चेति।

5. **अपादानम्** –अप = अपकृष्य = पृथक्कृत्य, आदीयते = गृह्यत इति अपादानम्। इत्यस्य विधायकंसूत्रं "ध्रुवमपायेऽपादानम्[12]" इति। अस्यार्थोऽयम् – अपायः = विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये ध्रुवम् = अवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्। अयं भावः – अपादानत्वं हि सम्बद्धकर्तरि समवायसम्बन्धेन स्थिता या क्रिया तज्जन्यो यः प्रस्तुतधात्वविषयविभागस्तदाश्रयत्वमेव। इदमेवाश्रयत्वमवधिः। यथा 'रामो गृहादागच्छति' इत्यत्र गृहस्य। अत्र हि कर्ता रामस्तेन सह समवायरूपेण सम्बद्धा आगमनक्रिया यतो हि विभाग उत्पद्यते। स च विभागो नहि आ + गम्धातुवाच्यः। तेन हि विभागाश्रयो गृहमतस्तत्रापादानत्वम् यत्र पञ्चमीविधानम्। विभागो हि न केवलं वास्तविकोऽपितु बुद्धिपरिकल्पितोऽपि। विभागस्य बुद्धिपरिकल्पितत्वादपि 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' इत्यत्र पाटलिपुत्रकेऽपादानत्वम्। तेनैव 'चैत्रान्मैत्रः सुन्दरः' इत्यत्र चैत्रस्यापादन्त्वमपि। इदं हि द्विविधम् – चलमचलञ्चेति।

6. **अधिकरणम्** - "आधारोऽधिकरणम्[13]" इति ह्यस्य विधायकं पाणिनिसूत्रम्। कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञं स्यात्। अयं भावः – कर्तृद्वारेण व्यापाराधारवं कर्मद्वारेण फलाधारत्वं वाधिकरणत्वम्। न च 'आधारोऽधिकरणम्' इति आध्रियते क्रियाऽस्मिन्नित्याधार इति व्याख्यानेन साक्षात्क्रियाधारभूतयोः

[9]पा.सू.1.4.42

[10]पा.सू.1.4.45

[11]पा.सू. 1.4.32

[12]पा.सू. 1.4.24

[13]पा.सू.1.4.45

कर्तृकर्मणोरधिकरणत्वमिति वाच्यम्, तयोस्तु परशास्त्रत्वेन कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यामधिकरणत्वबाधनात्। तेन च साक्षात्क्रियाधारयोः कर्तृकर्मणोरधिकरणत्वमपि तु तत्तद् द्वारेण फलव्यापाराधारयोरेव तत्। हरिरप्याह **"कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत्क्रियाम्।उपकुर्वत्क्रियासिद्धौशास्त्रेऽधिकरणंस्मृतम्[14]।।"** कर्तृकर्मव्यवहितत्वेन क्रियाया असाक्षादाधाररूपेण तत्सिद्धावुपकारकं कारकमधिकरणमुच्यते इति तस्यार्थः। अधिकरणं हि त्रिविधमभिव्यापमौपश्लेषिकं वैषयिकञ्चेति। तत्र सम्पूर्णावयवव्याप्ते सति व्यापकाधारत्वम्। यथा तिलेषु तैलमिति। इदमेव मुख्यमधिकरणमेतदपेक्षाया इतरयोर्गौणत्वमेव । वर्गीकरणस्याधारः "संहितायाम्[15] " "तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः[16]" एतत्सूत्रद्वयभाष्यमेव। अभिव्यापकत्वं हि आधारस्य सम्पूर्णावयवे आधेयस्य सत्ताया व्याप्तिरेव। यथा दधनि सर्पिः। औपश्लेषिकं सामीप्येन सम्बन्ध एव । शब्दस्य शब्देन सम्बन्धोऽप्यौपश्लेषिक एव। "इको यणचि" इत्यत्र औपश्लेषिकमेवाधिकरणमिगादीनामजादिसामीप्यमस्याशयः। वैषयिकमिति विषयसम्बद्धम्। यत्राधेय आधारे समवायसम्बन्धेन तिष्ठति तदौपश्लेषिकं यत्र च तयोः सामीप्यसम्बन्धः संयोगसम्बन्धो वा तदौपश्लेषिकं तदुभयातिरिक्तं यत्राधेय आधारे विषयतासम्बन्धेन तिष्ठति तद्वैषयिकमधिकरणमिति। यथा कटे आस्ते। अन्ये तु कटे आस्ते इत्यत्र संयोगसम्बधेनौपश्लेषिकमेवाधिकरणं मन्यन्ते उदाहरन्ति च वैषयिकाधिकरणं मोक्षे इच्छास्तीत्यादौ । लघुशब्देन्दुशेखरेऽप्युक्तम् – कटे आस्ते इति तु नापश्लेषिकोदाहरणं युक्तमुक्तभाष्यविरोधात्। यद्वा एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽपि श्लेषस्थसमीपमुपश्लेषं तत्कृतमिति व्युत्पत्यौपश्लेषिकत्वमित्यभिप्रायेण तदुदाहरणमिति। सिद्धान्तमञ्जूषायमुक्तम् – तत्राधारस्त्रिधा – औपश्लेषिको, वैषयिकोऽभिव्यपकश्चेति। तत्र संयोगसमवायिसम्बन्धेन कर्तृकर्मसम्बन्ध आद्यः। विषयतासम्बन्धेन तत्सम्बद्धो द्वितीयः व्यापकसम्बन्धेन तृतीयः। तत्र कटे शेते इत्यत्र स्ववृत्तिकर्तृकत्वसम्बन्धेन कटवृत्तिशयनमिति बोधः, मोक्षे इच्छास्तीत्यत्र स्वविषयकर्तृकत्वसम्बन्धेन मोक्षवृत्तिरिच्छाकर्तृका सत्तेति बोधः। सर्वस्मिन्नात्मास्तीत्यत्र स्वव्यापककर्तृकत्वसम्बन्धेन सर्ववृत्तिरात्मकर्तृका सत्तेति बोधः। लघुमञ्जूषायां तु इत्थमुक्तम् – अधिकरणं त्रिधा, औपश्लेषिकं, वैषयिकमभिव्यापकञ्चेति। तदुक्तं हरिणा – **उपश्लेषस्य चाभेदस्तिलाकाशकटादिषु। उपकारात्तु भिद्यन्ते संयोगिसमवायिनाम्।अविनाशो गुरुत्वस्य प्रतिबन्धे स्वतन्त्रता। दिग्विशेषादवच्छेद इत्याद्या भेदहेतवः।।**इत्यौपश्लेषिकाभिव्यापकवैषयिकेषु त्रिष्वपि उपश्लेषोऽस्त्येव उपकारः सम्बन्धस्तद्भेदात्तु त्रित्वेन व्यवहारः। 'कटे आस्ते' इत्यादौ संयोगिन्याधारे कतिपयावयवव्यास्यैव सम्बन्धः। तिलेषु तैलमित्यादौ समवायिनि समस्तावयवव्यास्या खे शकुनय इत्यत्र । काशस्य तात्विकावयवाभावात्कल्पितदेशात् वैषयिकत्वं कल्पितदेशापेक्षया चात्राप्य युक्तान्तर उपश्लेषः।

लेखकसंकेतः-
राष्ट्रिय (श्रीवाणीयुवा-अलंकरण)सम्मानेनसम्मानितः
प्रशिक्षितस्नातकशिक्षकः
(हिन्दी, संस्कृतम्)
परमाणु-ऊर्जाकेन्द्रीयविद्यालयः- 1, जादूगोड़ा,
पूर्वीसिंहभूम, झारखण्ड,पिन-832102,

[14]वाक्यपदीयम् 3.7.148

[15]पा.सू.7.1.72

[16]पा.सू.5.2.45

पश्य मृगो धावतीत्यत्र शाब्दबोधोपपत्तिः

✍ मौनिका बोल्ला

शब्दायत्तं जगत् सर्वमिति जानीम एव शब्दब्रह्मवादिनो वयं शाब्दिकाः । स च शब्दः कीदृशः ? इति चेत् तत्र स्फोटात्मको शब्दो गृह्यते । यद्यप्ययं स्फोटः वर्णपदवाक्यभेदेन त्रिविधः । तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन षोढा , पुनः अखण्डपदस्फोटः अखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनया अष्टविधः । तथापि लोके अर्थबोधकत्वात् , तेनैवार्थसमाप्तेश्च वाक्यस्फोट एव तेषु वास्तविकः, वर्णादिस्फोटास्त्ववास्तविका एव । ननु वाक्यस्फोटस्यैव मुख्यत्वे वर्णादिस्फोटानामुपादानं दोषग्रस्तं दुरर्थकं वा इति चत् तन्न , यतो हि देशकालकर्तृभेदाद्वाक्यानि अनन्तानि , अतस्तेषु सङ्केतग्राह्यशक्तिग्रहोऽसम्भवः, अतः आचार्याः लघूपायेन वाख्यान्वाख्यानं यथा स्यादिति विचार्य स्वप्रक्लृप्त्या वाक्ये पदानि , पदे च प्रकृतिप्रत्ययविभागञ्चक्रिरे । एवं प्रकृतिप्रत्ययसमूहः = सुबन्तं तिङ्गन्तं वा पदं भवति , तदाह भगवान् पाणिनिः 'सुप्तिङ्गन्तं पदम्' इति , गौतमश्च 'ते विभक्त्यन्ताः पादम्' (न्याय. सूत्र. 2/2/60) इति । ततः सुबन्तपदसमूहः, तिङ्गन्तपदसमूहः, सुबन्ततिङ्गन्तपदसमूहो वा वाक्यत्वेन ग्राह्यः । इत्येवं प्रक्लृप्तानां सुबन्ततिङ्गन्तपदार्थानां परस्पराकाँक्षायामन्वये सति वाक्यार्थबोधो जायते । तमेव वाक्यार्थबोधं 'शाब्दबोधः' इत्यपि वदन्ति । अथेदानीं मया पश्य मृगो धावति इत्यत्र शाब्दबोधसम्बन्धिविषयः कश्चिन्नस्मिन्निबन्धे निबिभन्स्यते । तत्र सर्वप्रथमम् –

1. कस्तावच्छाब्दबोधः ?

शब्दादागतं शाब्दम् । शाब्दश्चायं बोधः शाब्दबोधः । शब्दजन्यो बोध इत्यर्थः । किन्तु कस्माच्चिदपि शब्दात् कस्यचिदर्थस्य बोधस्तावन्न भवति , यावच्छाब्दबोधकर्त्तरि तच्छब्दार्थोपस्थितिर्न जायते । एवं तच्छब्दार्थोपस्थितिरपि तावन्न भवति यावत् तदर्थनिरूपिता शक्तिः तस्मिन् शब्दे गृहीता न भवेत् । तदुक्तं नागेशेन – तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्त्वावच्छिन्नं प्रति तद्धार्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः । अत एव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधः। इति । एवञ्च पूर्वं पदज्ञानं, ततः शक्तिग्रहः, ततः पदार्थोपस्थितिः, ततः शाब्दबोधो जायते । यथा- घटपदे घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकार्थनिरुपिता शक्तिः गृहीता वर्त्तते, इति गृहीततादृशशक्तिकस्य = घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकार्थनिरूपिता शक्तिः घटपदे वर्त्तते इति ज्ञातशक्तिकस्य श्रोतुः, तादृशघटपदार्थस्योपस्थितौ , घटपदेन घटत्वप्रकारको घटविषयकोऽयं घटः इत्याकारकः शाब्दबोधो भवति । उक्तञ्च- **पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः । शाब्दबोधं फलन्तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।।**

शाब्दबोधे पदज्ञानं करणं भवति, न तु वर्त्तमानकालिकश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नं पदमात्रम् । तत्र करणञ्च व्यापारवदसाधारणं कारणं भवतीति पदज्ञानस्य करणत्वे , कस्तस्य व्यापारः इति जिज्ञासायामाह – द्वारं तत्र पदार्थधीः इति । पदार्थधीः = पदार्थोपस्थितिरित्यर्थः । द्वारत्वञ्चात्र व्यापारत्वम्, तच्च तज्जन्यत्त्वे सति तज्जन्यजनकत्त्वरूपम् । तथा हि पदज्ञानजन्यत्त्वे सति पदार्थोपस्थितिजन्यशाब्दबोधजनकत्त्वात् पदार्थोपस्थितेः द्वारत्वं = व्यापारत्वं भवति । इयन्तु साधारणप्रक्रिया शाब्दबोधस्य । वस्तुतस्तु शाब्दबोधस्य वाक्यार्थबोधत्त्वात् तत्र वाक्ये भवन्त्यनेकानि पदानि, तदा च पूर्वं पदज्ञानं, ततः पदार्थोपस्थितिः, ततश्च पदानामनैक्यादाकाँक्षायोग्यतासत्तितात्पर्येतिसहकारिकारणैः पदानां परस्परान्वये शाब्दबोधो जायते इति शाब्दबोधस्य नामान्तरमन्वयबोधोऽपि भवति । तस्मात् एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गावगाहिबुद्धित्त्वं शाब्दबोधत्त्वमिति ज्ञेयम् ।

2 शाब्दिकमते शाब्दबोधसिद्धान्तः –

शाब्दिकमते धातोः फलं व्यापारश्चेत्यर्थद्वयं भवति । तत्र फलं व्यापारेण जन्यते इति भवति फलव्यापारयोः जन्यजनकभावः सम्बन्धः । तिङ्प्रत्ययार्थाश्च कर्त्तृकर्मसंख्याकालाः भवन्ति । तत्र कर्त्ता आश्रयत्त्वसम्बन्धेन व्यापारे , कर्म च आश्रयत्त्वसम्बन्धेन फले विशेषणं भवति । तिङर्थसङ्ख्या च कर्त्तृवाच्ये कर्त्तरि , कर्मवाच्ये च कर्मणि विशेषणं भवति । तिङर्थः कालश्च वृत्तित्त्वसम्बन्धेन व्यापारे विशेषणं भवति , व्यापारश्च शाब्दबोधे मुख्यविशेषतां भजते । तदित्थं शाब्दिकानां व्यापारमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधो जायते ।

3 न्यायमते शाब्दबोधसिद्धान्तः-

तार्किकाणां मते फलानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः । फलस्य च व्यापारजन्यत्त्वात् फलव्यापारयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः । लकाराणाञ्च कृतौ शक्तिर्लाघवात् , तेन कृतिरेव तिङर्थः । धात्वर्थव्यापारस्य कालस्य च कृतावन्वयः, कृतेश्च सङ्ख्यायाश्च आश्रयतासम्बन्धेन समवायसम्बन्धेन वा प्रथमान्तार्थेऽन्वयः। एवञ्च तार्किकनये प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधो जायते ।

4 पश्य मृगो धावति इत्यस्य शाब्दिकमते शाब्दबोधः –

यद्यपि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति नियमेन धातुरूपप्रकृत्यर्थस्य व्यापारस्य शाब्दबोधे प्राधान्यमयुक्तम् , तथापि 'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति निरुक्तभाष्याद्धात्वर्थव्यापारस्य प्राधान्यं निश्चीयते । निरुक्ते हि यास्काचार्यः नमाख्यातोपसर्गनिपातभेदेन चतुर्द्धा पदानि विभज्य आख्यातनाम्नोर्लक्षण-प्रतिपादकमिदं लक्षणद्वयमाह - भावप्रधानमाख्यातं, सत्त्वप्रधानानि नामानीति । अत्र आख्यातपदेन तिङन्तं गृह्यते , न तु तिङ् , तस्य अपदत्वेन विभागासङ्गतिप्रसङ्गात् , तथा आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये इत्यत्र भाष्ये तिङन्ते एव आख्यातपदस्य शक्त्यवधारणाच्च । एवञ्च तिङन्तं तिङर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितधात्वर्थनिष्ठविशेष्यताकबोधजनक-मित्यर्थस्य पर्यवसाने धात्वर्थव्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधोऽध्यवसीयते वैयाकरणानाम् । तस्मात् पश्य मृगो धावतीत्यत्र "एकत्वविशिष्टमृगाभिन्नाश्रयवृत्तिर्वर्त्तमानकालावच्छिन्नोत्तरदेशसंयोगानुकूलवेगवत्तरव्यापारकर्मकः युष्मदर्थाभिन्नाश्रयवृत्तिः प्रेरणाविषयीभूतो चाक्षुषज्ञानानुकूलो व्यापारः" इति शाब्दबोधो ज्ञेयः ।

5 न्यायमते चास्य शाब्दबोधः –

उत्तरदेशसंयोगानुकूलवेगवत्तरव्यापारानुकूलकृतिमन्मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद्दर्शनं तदनुकूलकृतिमांस्त्वम्।

6 नैयायिकमते आपत्तयस्तद्विमर्शश्च –

I. प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधवादिनां नये पश्य मृगो धावतीत्यत्र मृगकर्त्तृकधावनकर्मकं दर्शनमित्येवं रूपं भाष्यकृत्प्रदर्शितमेकवाक्यत्वं न सङ्गच्छेत ।

तत्रायं भावः – धावनन्नाम उत्तरदेशसंयोगानुकूलोत्कटवेगवान् व्यापारः । लडर्थश्च कर्त्ता । तत्र अर्थात् लडर्थव्यापाराश्रये कर्त्तरि मृगस्याभेदसम्बन्धेन संख्यायाश्च समवायसम्बन्धेनान्वयः । कालश्चावच्छेद्यत्वसम्बन्धेन व्यापारेऽन्वेति । तथा च मृगो धावतीत्यस्य एकत्वविशिष्टमृगाभिन्नाश्रयवृत्त्युत्तरदेशसंयोगानुकूलो वेगवत्तरो व्यापारः इति बोधो जायते । ततश्च चाक्षुषज्ञानानुकूलव्यापारार्थकाद् 'दृश्'धातोः निष्पन्नस्य लोण्मध्यमपुरुषस्यैकवचनस्य पश्येत्येतस्य त्वदभिन्नाश्रयवृत्ति-चाक्षुषज्ञानानुकूलो प्रेरणाविषयीभूतो व्यापारः इति पृथग्बोधः । ततश्च मृगकर्त्तृकधावनक्रियायाः कर्मत्वेन दृशिक्रियायामन्वये एकत्वविशिष्टमृगाभिन्नाश्रयवृत्तिधावनानुकूलव्यापारकर्मकः त्वदभिन्नाश्रयवृत्तिश्चाक्षुषज्ञानानुकूलो प्रेरणाविषयीभूतो व्यापारः इत्येकवाक्यतया व्यापारमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधो भवति वैयाकरणानाम् । नैयायिकानान्तु न तथा । न्यायमते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य सत्त्वात्, आख्यातार्थकृतेश्चाश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तार्थेऽन्वयात् धावनानुकूलकृतिमन्मृगः, दर्शनाश्रयस्त्वमित्येव पृथक्-पृथग् बोधः स्यात् । 'एकत्र विशेषणत्वेनान्वितस्यापरत्र विशेषणत्वायोगः' इति न्यायेन धावनस्य कृतौ विशेषणतया अन्वये पुनः धावनस्य दर्शनं विशेषणतया अन्वयः न स्यादिति एकवाक्यताभङ्गः स्पष्ट एव । ननु धावनक्रियाविशेष्यस्य प्रथमान्तपदवाच्यमृगस्यैव कर्मतया दृश्यर्थेऽन्वयेन 'धावनानुकूलव्यापारानुकूल-कृतिमन्मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद्दर्शनं तदनुकूलकृतिमांस्त्वम्' इति शाब्दबोधात् नैयायिकमतेऽपि न एकवाक्यताभङ्गः इति वाच्यम् तदा हि –

II. धावनानुकूलकृतिमन्मृगस्य कर्मत्वेनान्वये कर्मभूतस्य मृगपदस्य प्रातिपदिकार्थतया, पश्येत्यत्र तिङा च तदनभिधानेन अनभिहिते कर्मणि, कर्मणि द्वितीया इति सूत्रेण द्वितीयापत्तौ पश्य मृगं धावतीत्यापत्तिः स्यात् । वैयाकरणानान्तु दृशिक्रियाकर्मभूतस्य धावनस्य धातुवाच्यतया, धातोश्च प्रातिपदिकसञ्ज्ञाविरहेण न द्वितीयाप्रसक्तिः ।

III. एवं पूर्वोक्तविधा द्वितीयाप्रसक्तौ अप्रथमासामानाधिकरण्यात् 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति शतृप्रसङ्गोऽपि स्यात् । तदा च 'धावन्तं मृगं पश्य' इति वाक्यस्यैव सम्भवेन पश्य मृगो धावतीत्येतादृशानां विलय एव स्यात् ।

एवञ्च द्वितीयापत्तौ , धावतीत्यत्र प्रक्रियादशायां लटः स्थाने नित्यं शत्रा प्रसज्येत । तथा च

तिबाद्यप्रवृत्तिभियैव द्वितीया न करिष्यते इत्यपि न वाच्यम् । यतो हि शतृप्रसङ्गो न द्वितीयाप्रवृत्तिप्रतिबन्धकः, किन्तु कर्मणोऽभिहितत्वं तत्प्रतिबन्धकम् । तदेवं शतृप्रत्ययोऽपि कर्मणोऽभिधाने न भवति, कर्त्तरि लटः सत्त्वात् । ततश्च कर्मणोऽनभिहितत्वस्य तादवस्थ्याद् द्वितीया दुर्वारैव ।

ननु तार्किकमतेऽपि न द्वितीयाप्रसक्तिः । तत्र हि धावनक्रियाविशिष्टमृगरूपवाक्यार्थस्यैव कर्मतया दर्शनेऽन्वयः । तथा सति धावनक्रियाविशिष्टमृगरूपवाक्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावाद् द्वितीयापत्तिर्न स्यात् । इत्यप्ययुक्तम् ।

IV. धावनक्रियाविशिष्टमृगरूपवाक्यार्थस्य कर्मतयाऽन्वये द्वितीयाऽभाव इति चेत् नीलगुणविशिष्टघटादेः कर्मत्वविवक्षायां 'नीलं घटमानय' इत्यादावपि द्वितीयानापत्तिः स्यात् । द्वितीयानापत्तौ च 'अनभिहिते' इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः प्रसज्येत ।

तत्र हि भाष्यकृता 'अभिधानञ्च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः इति परिगणनाभावे भीष्मगुणविशिष्टस्य कर्मत्वविवक्षायां कटशब्दादुत्पन्नद्वितीयया कर्मत्वस्योक्ततया भीष्मशब्दाद् द्वितीया न स्यादिति परिगणनम्' इत्युक्तम् । तदेवं विशिष्टस्य कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीयानापत्तौ भीष्मं कटं कुरु इत्येतत्परकभाष्यासङ्गत्यापत्तिः भवेदित्यर्थः । यद्यत्रोच्येत यत् पश्येति दर्शनक्रियायां कर्मतया मृगस्य नान्वयः , अपि तु तत्र तमिति स्वतन्त्रं कर्माध्याहार्यम् । तथा च यो मृगो धावति तं पश्येत्यर्थः पश्य मृगो धावतीति प्रयोग सम्भव एव । तदा च अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षञ्चेद्विभागे स्यादिति जैमिनिसूत्रात् वाक्यभेदप्रसङ्गोऽपि न प्रसज्येतेति तदपि न समीचीनम् । तदा च –

V. तमिति स्वतन्त्रकर्मणोऽध्याहारे वक्तुः विवक्षितान्वयबोधो न स्यात् ।

अयमाशयः –तमित्यध्याहारे सर्वनाम्नां प्रधानपरामर्शितया तत्पदेन प्रधानीभूतमृगस्यैव परामर्शे , मृगस्यैव दर्शनकर्मत्वेन

अन्वयो बोधितः स्यात् । स तु वक्त्रा न बोधयितुमिष्टः । अपि तु मृगकर्तृकोत्कटधावनक्रियाविशेषस्यैव दर्शनकर्मतया अन्वयो विवक्षित इति विवक्षितान्वयबोधो न स्यात् ।

निष्कर्षः –

तदित्थं भाष्यकृत्सम्मतैकवाक्यतानुपपत्तिरूपदोषस्य भावप्रधानमाख्यातमितिवचनविरोधरूपदोषस्य च तादवस्थ्यात् नैयायिकानां भावनाप्रकारकबोधे प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणम् इत्येवं बोधोपस्थित्योः कार्यकारणभावो नाऽऽदरणीयः। किन्तु 'विशेष्यतासम्बन्धेन आख्यातार्थकर्तृप्रकारकबोधे विशेष्यतासम्बन्धेन भावनायाः धातुजन्योपस्थितिः कारणम्' इत्येवं बोधोपस्थित्योः कार्यकारणभावोऽवसेयः ।

परामृष्टग्रन्थाः –

1. वैयाकरणसिद्धान्तदिग्दर्शनम् ।
2. वैयाकरणभूषणसारः (प्रभादर्पणव्याख्योपेतः) ।
3. तदेव, (शांकरीव्याख्या) ।
4. वैयाकरणभूषणसारदीपिका ।
5. परमलघुमञ्जूषा ।
6. व्युत्पत्तिवादः।
7. भूषणसारपरमलघुमञ्जूषयोः सिद्धान्तानां समिक्षा ।

गवेषिका, व्याकरणविभागे ,

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,

क.जे सोमैया संस्कृतविद्यापीठम्

केन्द्राधिपत्य दोष : गुरु और शुक्र के सन्दर्भ में

✍ डॉ. राजीव रंजन

आकाशीय पिण्डों का निरीक्षण, अध्ययन तथा उसके प्रभावों का अध्ययन ही ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिष के विषय विभाग का क्षेत्र अतिविस्तृत है। अतः इस शास्त्र के विषय को अनेक भेदों एवं विभागों के अन्तर्गत बांटा गया है। प्रमुख रूप से ज्योतिष के तीन ही मुख्य स्कन्ध हैं- सिद्धान्त, संहिता व होरा। भारतीय ज्योतिषशास्त्र का समस्त फलादेश जातक की जन्मपत्रिका या जन्मकुंडली पर आश्रित है। जन्मकुण्डली के बारह भाव होते हैं। लग्न से प्रारंभ करते हुए इसे क्रमशः प्रथम-द्वितीय-तृतीय आदि भावों में जाना जाता है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र में 'जन्म-कुंडली' आधारभूत आवश्यकता होती है। यह कुंडली किसी काल विशेष की आकाशीय स्थिति का मानचित्र होता है। कुण्डली में कुल बारह भाव होते हैं। ज्योतिषशास्त्र के विभिन्न ग्रंथों में प्रत्येक भाव के लिए अनेक संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। तथापि कुंडली के इन भावों को क्रमशः देह, धन, पराक्रम, सुख, पुत्र, शत्रु, स्त्री, मृत्यु, भाग्य, राज्य, लाभ एवं व्यय नामों से जाना जाता है। लग्न, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम इन चार स्थानों को 'केन्द्र' कहते हैं। इन्हीं को 'चतुष्टय' और 'कंटक स्थान' नामों से भी जाना जाता है। भारतीय फलित ज्योतिष शास्त्र के ग्रंथों में जन्मकुण्डली के कुछ भावों की 'केन्द्र' संज्ञा कही गई है। 'केन्द्र' संज्ञक भावों के विषय में महर्षि पराशर का मत है कि लग्न, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम भाव केन्द्र संज्ञक हैं।[1] 'लोमश संहिता' में महर्षि लोमश का भी मत है कि लग्न, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम भाव ही 'केन्द्र' संज्ञक हैं।[2] 'कृष्णीयम्' ग्रंथ के रचनाकार ने भी इन्हीं भावों को केन्द्र, चतुष्ट्य तथा कण्टक संज्ञा से निर्देशित किया है।[3] 'वृहत् पराशर होराशास्त्र' में भी केन्द्र स्थानों के शुभत्व का वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में महर्षि पराशर केन्द्र स्थानों को 'विष्णु-स्थान' भी कहते हैं।[4] इन केन्द्र स्थानों को अत्यन्त शुभ माना गया है और कहा गया है कि इन स्थानों तथा स्थानाधिपतियों के योग से अशुभ भी शुभ हो जाता है।[5]

केन्द्राधिपत्य दोष कहते किसे हैं? यह जानना आवश्यक है। इस विषय पर महर्षि पराशर ने अपने लघुकाय ग्रन्थ 'लघुपाराशरी' में विशेष रूप से चर्चा की है और कहा है- "न दिशन्ति शुभं नृणां सौम्याः केन्द्राधिपाः यदि। क्रूराश्चेदशुभं ह्येते प्रबलाश्चोत्तरोत्तरम्।।"[6] अभिप्राय यह है कि यदि शुभग्रह (गुरु, शुक्र, बुध व चन्द्र)[7] केन्द्र स्थानों (1,4,7,10)[8] के स्वामी हों तो वे जातक को अपना शुभ फल प्रदान नहीं करते हैं और पापग्रह (सूर्य, मंगल, शनि)[9] भी यदि इन्हीं केन्द्र स्थानों के अधिपति हों तो जातक को पाप फल प्रदान नहीं करते। नैसर्गिक शुभ ग्रहों के रूप में बृहस्पति, शुक्र, पूर्ण चन्द्र तथा अकेला बुध इनकी गणना की गई है। स्पष्ट है कि गुरु व शुक्र के शुभत्व के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती है, वहीं चन्द्र तथा बुध के प्रसङ्ग में स्थिति किंचित भिन्न होती है। शुभ ग्रहों के केन्द्राधिपत्य दोष के बलाबल निर्धारण के प्रसङ्ग में महर्षि पराशर ने एक सूत्र का प्रतिपादन किया है- "केन्द्राधिपत्यदोषस्तु बलवान् गुरुशुक्रयोः।"[10] अर्थात् जिन शुभग्रहों को केन्द्राधिपति होने के कारण दोष लगता है उनमें गुरु और शुक्र प्रमुख

हैं। इसके बाद क्रमशः बुध तथा चन्द्रमा को केन्द्राधिपत्य दोष होता है- 'बुधस्तदनु चन्द्रोऽपि भवेत् तदनु तद्विधः।'[11] लघुपराशरी ग्रन्थ के विभिन्न टीकाकारों ने गुरु तथा शुक्र के मध्य केन्द्राधिपत्य दोष के प्रसङ्ग में गुरु को केन्द्राधिपत्य दोष अधिक होना स्वीकृत किया है। हम जानते हैं कि जातक के जीवन के सर्वप्रमुख सुख तथा इष्ट विषयों का विचार गुरु व शुक्र से ही किया जाता है,[12] अतः इन दोनों में से किसी एक के भी केन्द्राधिपति होने पर जातक को उस ग्रह विशेष से संबंधित शुभ फलों की प्राप्ति में कमी बनी रहती है। अतः गुरु व शुक्र को केन्द्राधिपत्य दोष सर्वाधिक होता है इस सन्दर्भ में कोई मतभिन्नता नहीं है। परन्तु इन दोनों नैसर्गिक ग्रहों अर्थात् गुरु व शुक्र में से भी किस ग्रह को केन्द्राधिपत्य दोष सर्वाधिक होता है? यह विचारणीय प्रश्न है। इस सन्दर्भ में मेष लग्न से लेकर मीन लग्न अर्थात् कुल बारह लग्नों पर सूक्ष्म विश्लेषण तथा विमर्श करने पर ही उपरोक्त शङ्का का समाधान प्राप्त हो सकता है।

गुरु- गुरु चार लग्नों में केन्द्राधिपत्य दोष से पीड़ित होते हैं और ये लग्न हैं- मिथुन, कन्या, धनु और मीन। मिथुन लग्न की कुण्डली में गुरु की दोनों राशियाँ धनु तथा मीन क्रमशः सप्तम तथा दशम भाव में पड़ती हैं, अर्थात् सप्तम भाव तथा दशम भाव का अधिपति होने के कारण गुरु को केन्द्राधिपत्य दोष लगता है। इसी प्रकार कन्या लग्न की कुण्डली में भी गुरु द्वितीय तथा तृतीय केन्द्र स्थानों अर्थात् चतुर्थेश तथा सप्तमेश होने के कारण केन्द्राधिपत्य दोष से पीड़ित होते हैं। धनु लग्न की कुण्डली में लग्नेश तथा चतुर्थेश होने के कारण गुरु को यह दोष प्राप्त होता है जबकि मीन लग्न की जन्मकुण्डली में गुरु को यह दोष दशमेश तथा लग्नेश होने के कारण प्राप्त होता है। उपरोक्त परिस्थितियों में हम पाते हैं कि बृहस्पति की एक राशि यदि केन्द्र स्थान में पड़ती है, तो उसकी दूसरी राशि भी केन्द्र स्थान में पड़ जाती है। स्पष्ट है कि अपनी दोनों राशियों के केन्द्र स्थान में पड़ जाने के कारण बृहस्पति उस जातक को शुभ फल देने में असमर्थ हो जाते हैं।

शुक्र- शुक्र के सन्दर्भ में जब हम केन्द्राधिपत्य दोष के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि कुल बारह लग्नों में से आठ लग्न ऐसे हैं, जिनमें शुक्र केन्द्रेश होते हैं और उन्हें केन्द्राधिपत्य दोष प्राप्त होता है। ये लग्न हैं- मेष, वृष, कर्क, सिंह, तुला, वृश्चिक, मकर और कुम्भ। मेष लग्न की कुण्डली में शुक्र की राशि तुला तृतीय केन्द्र स्थान (सप्तम भाव) में रहती है और इसकी दूसरी राशि द्वितीय भाव में रहती है। वृष लग्न में शुक्र लग्नेश (प्रथम केन्द्रेश) और षष्ठेश होते हैं। कर्क लग्न में शुक्र द्वितीय केन्द्र स्थान (चतुर्थभाव) तथा एकादश भाव के अधिपति होते हैं। सिंह लग्न में शुक्र चतुर्थ केन्द्र स्थान (दशम भाव) तथा तृतीय स्थान के स्वामी होते हैं। तुला लग्न में शुक्र प्रथम केन्द्र स्थान (लग्न भाव) तथा अष्टम भाव के स्वामी होते हैं। वृश्चिक लग्न में शुक्र तृतीय केन्द्र स्थान (सप्तम भाव) तथा द्वादश भाव के अधिपति रहते हैं। मकर लग्न में शुक्र चतुर्थ केन्द्र स्थान के स्वामी तथा पञ्चम भाव (त्रिकोण) के स्वामी होते हैं। कुम्भ लग्न में भी शुक्र द्वितीय केन्द्र स्थान के स्वामी होने के साथ-साथ नवम भाव (त्रित्रिकोण) के स्वामी होते हैं। ध्यातव्य है कि शुक्र के केन्द्रेश होने की आठ संभावनाओं में से छः परिस्थितियाँ ऐसी बनती हैं, जबकि शुक्र केन्द्रेश होने के साथ-साथ त्रिक (3,8,12) स्थानों अथवा त्रिषडाय (3,6,11) स्थानों के भी अधिपति होते हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ गुरु को केन्द्राधिपत्य दोष लग्न की परिस्थिति में उनकी दूसरी राशि भी केन्द्र स्थानों में ही पड़ती है, इस कारण वे अपना शुभ फल देने में असमर्थ हो

जाते हैं, परन्तु उनमें अशुभ फल देने की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। वहीं दूसरी तरफ शुक्र के केन्द्राधिपति होने की परिस्थिति में 75% ऐसे अवसर होते हैं जब शुक्र की दूसरी राशि पाप स्थानों[13] (त्रिक, त्रिषडाय) में पड़ती है। महर्षि पराशर ने 2,3,6,8,11,12 भावों को क्रूर और अशुभ संज्ञक माना है।[14] जिसके कारण शुक्र शुभ फल देने में समर्थ तो नहीं ही रहते हैं, परन्तु उनमें अशुभ फल देने की संभावना अवश्य व्याप्त हो जाती है। बारह जन्म लग्नों में से जहाँ गुरु के केन्द्राधिपित होने की संभावना 33.33% होती है, वहीं शुक्र को केन्द्राधिपत्य दोष से पीड़ित होने की संभावना 66.66% रहती है। यद्यपि गुरु तथा शुक्र के शुभत्व की तुलना की जाए तो गुरु अवश्य श्रेष्ठ हैं, परन्तु केन्द्राधिपत्य दोष के बलाबल निर्धारण प्रसङ्ग में शुक्र को ही अधिक दोष होता है, यह मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्; 8/33
2. लोमशसंहिता; 6/106
3. कृष्णीयम्; 3/13
4. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्; 42/28
5. शिवजातक, श्लो.13
6. लघुपाराशरी; 2/7
7. शम्भुहोराप्रकाश; 2/6
8. लोमशसंहिता; 6/106
9. सारावली; 4/9
10. लघुपाराशर; 2/10
11. वही; 2/11
12. उत्तरकालामृतम्; 38-41, 42-45
13. सर्वार्थचिंतामणि; 1/46
14. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्; 33/37

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

ISSN – 2349-3100

रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति

✍डॉ. मोहिनी अरोरा

काव्य का मुख्यार्थ ब्रह्मानन्द सहोदर "रस" भावों का उत्पादक है अथवा भावों से उत्पादित है? रस भावों का आविर्भाव (प्रकटीकरण) करता है अथवा भावों से रस का आविर्भाव होता है? यह प्रश्न विचारणीय है।यहाँ भरतमुनि के रससूत्र पर विचार करें तो -"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**।"यह सूत्र स्पष्ट करता है कि विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारिभावों का स्थायीभावों से संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ वे अनुभाव जो रसजन्य हैं अर्थात् रसोत्पत्ति होने पर जो अनुभाव होते हैं वे यहाँ विवक्षित नहीं हैं जैसा कि भट्टलोल्लट कहते हैं -**अनुभावाश्च न रसजन्याः अत्र विवक्षिताः**।- ना.शा. पारसनाथद्विवेदी की मनोरमा टीका प्रथम संस्करण पृष्ठ-35 अध्याय 6

यहाँ रस अनुभावों के उत्पादक भी कहे जा सकते हैं। विभावादि की तात्कालिक उपस्थिति न होने के कारण (क्योंकि लोक में विभावादि नहीं है) इसीलिए भावों से रस की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती। आस्वादन के योग्य होने पर ही कोई आलम्बन या उद्दीपन भाव विभावरूप को प्राप्त होता है। आस्वादन अर्थात् रसचर्वणा के योग्य होकर ही विभाव की सत्ता प्रकट होती है। रसत्व के बल से ही सामान्य भाव काव्य में विभाव की स्थिति को प्राप्त करता है, रस के बिना नहीं। इसीलिए प्रथमतः रस का विवेचन भरतमुनि को अभीष्ट है, वे कहते हैं -**तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** ।।यहाँ स्पष्ट है कि रस के बिना कोई नाट्याङ्ग प्रवृत्त नहीं हो सकता इसलिए रस की ही सबसे पहले एवं पूर्णरूप से व्याख्या की गई है।**हि यस्मात् रस विना विभादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते यतश्च तं विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते यतश्च रसं प्रत्यादृते रसनात्मकप्रतीत्येकधनविश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थः प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते**।-वही- पृ.33 अध्याय षष्ठ

रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ सकते क्योंकि रस के बिना आनन्दपूर्वक ज्ञानरूप नाट्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। चूँकि रस के प्रति आदरभाव रखने वाले और रसनात्मक प्रतीति में एकमात्र विश्रान्ति (आनन्द) का अनुभव करने वाले सामाजिक लोक में रस से भिन्न भावादि अर्थ अलग-अलग स्पष्टरूप से बुद्धि में नहीं आते, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव आस्वादन (रस) के विषय होकर ही इन संज्ञाओं को प्राप्त करते हैं एवं रसनीयता के बल से ही विभावादि की काव्य में विशेष स्थिति है।अपरत्र यह कहा गया है कि -**"दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।"**- वही- पृष्ठ सं.101 षष्ठोऽध्यायः

भावों से रस की निष्पत्ति देखी जाती है न कि रसों से भावों की। भट्टलोल्लट भी भरत के रससूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं- "विभावों का स्थायीभावों से संयोग होने पर उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध से रस

ISSN – 2349-3100

की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। अनुभावों का स्थायीभावों से संयोग होने पर गम्य गमक भाव सम्बन्ध होता है एवं रस की निष्पत्ति अर्थात् प्रतीति होती है तथा व्यभिचारिभावों का स्थायीभाव के साथ संयोग होने पर पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होता है एवं रस की निष्पत्ति अर्थात् उपचिति होती है। उपचित स्थायीभाव ही रस कहलाता है। सुप्त अवस्था में जो स्थायीभाव कहलाता है वही विभावों से उत्पन्न, अनुभावों से प्रतीत होता हुआ व्यभिचारिभावों से उपचित होकर रस कहलाता है।**श्री शंकुक** के मत में भी कारणरूप विभावों, कार्यरूप अनुभावों तथा सहकारीरूप स्थायीभावों के द्वारा कवि के शिक्षा और अभ्यासरूप प्रयत्न से अर्जित (उत्पन्न) होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उस प्रकार के कृत्रिम न प्रतीत होने वाले विभावादि के द्वारा अनुकर्ता नट में स्थित होने से लिङ्ग (अनुमान) के सामर्थ्य से प्रतीयमान मुख्य अनुकार्य रामादि में विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव का ही अनुकरण रूप होने के कारण स्थायीभाव उससे भिन्न नाम से व्यवहृत होने वाला पदार्थ रस कहलाता है अर्थात् मुख्यरूप से रामादि में हो तो स्थायीभाव और अनुकरण हो तो नटादि में रस कहलाता है।**अत्र विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन। न तु वाचिकाभिनयरूप तथाऽवगमयन्ति। न हि वागेव वाचिकम्।**-वही पृ.38 षष्ठोऽध्यायः । प्रथमतः काव्य के द्वारा विभावों का अनुसंधान किया जाता है अर्थात् आलम्बनरूप नायक, नायिका एवं उद्दीपनरूप तत्कालीन उद्दीपक परिस्थितियों का ज्ञान काव्य के अध्ययन से एवं अभ्यास से प्राप्त होता है। पुनश्च हस्तपादसंचालनादि अनुभावों का शिक्षा के द्वारा अर्थात् सीख कर अभ्यास किया जाता है तथा व्यभिचारी भावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा अनुसंधान होता है किन्तु स्थायीभाव काव्य के बल से भी प्रतीत नहीं होता। रति, शोक, क्रोध आदि शब्द अभिधा के द्वारा रत्यादि का अभिधान तो करते हैं परन्तु उनका (रत्यादि का) बोध नहीं कराते क्योंकि वाणी ही वाचिक नहीं है अपितु उस वाणी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक है केवल रति या शोक शब्द का उच्चारण कर देने से ही उसकी अनुभूति नहीं होती। तभी तो एक ही वाक्य को बोलने वाले वक्ता के अनुसार उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। वक्ता के गुणों के विषय में कहा भी गया है-**"व्याघ्रि यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।"**वक्ता के बोलने की कला वाणी को वाचिक का रूप देती है वाणी ही वाचिक नहीं है।

तेन-अवगमनशक्तिर्हर्यभिनयं वाचकत्वादन्या। अतएव स्थायीपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्।अभिनय वाचक शक्ति से भिन्न अर्थ का बोध कराने वाली दूसरी शक्ति है रससूत्र में स्थायी शब्द का भिन्न विभक्ति में प्रयोग नहीं किया है इसलिए 'अनुकरण की गई रति ही शृंगार रस है' रस का स्थायीभावजन्य या स्थायीभावरूप मानना तो युक्तिसंगत नहीं है तथापि अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस है।भट्टनायक के मतानुसार भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है। भट्टनायक के अनुसार 'संयोग पद का अर्थ भोज्यभोजकभाव और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है। इन्होंने अभिधा शक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों की कल्पना की है। अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है अभिधाशक्ति के द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होता है। भावकत्व व्यापार उस अर्थ को परिष्कृत कर

ISSN – 2349-3100

व्यक्ति विशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधारणीकरण कर देता है। साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व नामक व्यापार उस साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है।'किन्हीं आचार्यों के मत में **'परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्ति'**रस तथा भावों की परस्पर (एक दूसरे के) सम्बन्ध से निष्पत्ति होती है।-वही पृष्ठ 100 षष्ठोध्यायः ।**अभिनवगुप्त** का कथन है कि नर्तक में स्थित रसों से सामाजिक में भाव उत्पन्न होते हैं जैसे करुण रस के अभिनय में शोक उत्पन्न होता है फिर उससे विभावादि द्वारा उपचित होकर शोक सामाजिक में करुण रस बन जाता है इस प्रकार रस से भाव उत्पन्न होता है अथवा भावों से रस यह सन्देह होता है।-वहीपृष्ठ 102 षष्ठोध्यायः- किं रसेभ्यो भावा उत विपर्ययः? आहो अन्योन्य जनकतेति त्रयः प्रश्नाः।

1) क्या रसों से भाव उत्पन्न होते हैं?2) क्या भावों से रसों की उत्पत्ति होती है?3) परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं?इसमें तीसरा पक्ष भाव एवं रस को परस्पर उपकारक मानता है उनका कथन है कि न रस भावहीन होता है और न भाव रसहीन होता है। भाव रस को भावित करते हैं रस भावों से भावित होते हैं। 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।'वही ना.शा. 6.37भरत के अनुसार भावों से ही रस की अभिनिर्वृत्ति होती है क्योंकि भावों में रस का अस्तित्व अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति का तो उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है। (न रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिः)अभिनवगुप्त भी इसी मत के समर्थक हैं (अतो न रसेभ्यो भावाः) रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति तो नहीं मानी जा सकती किन्तु दोनों को परस्पर आश्रित माना है। रस भाव के आश्रित हैं और भाव रसाश्रित।- पृष्ठ 104 षष्ठोध्यायः**नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः** ।।ना.शा. 6-35

यतोहि अनेक प्रकार के रसों को भावित करते हैं इसीलिए उन्हें भाव समझना चाहिए।जिस प्रकार व्यंजन और औषधि का संयोग अन्न अर्थात् भोजन को स्वादु बना देता है उसी प्रकार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं। भाव रस को भावित करते हैं निष्पादन करते हैं और रस भावों को भावित करते हैं भाव बनाते हैं अर्थात् भावादि को भाव पद से कहने योग्य बनाते हैं।-वही पृ. 106 षष्ठोध्यायः

एवं क्रियाभेद अर्थात् क्रिया की भिन्नता होने पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं रहता। जिस प्रकार व्यंजन आदि द्रव्यों के संयोग से अन्न की आह्लादक (स्वादिष्ट) रसवत्ता होती है और आश्रयरूप (आधारभूत) अन्न से व्यंजन को आस्वादन के योग्य बनाया जाता है।इसी प्रकार भावों के द्वारा रसवत्ता होती है और रसों के द्वारा कारणादि को विभावादि नाम से अभिहित किया जाता है।

सहा. प्राध्यापिक (साहित्य)

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

भोपाल परिसर भोपाल

ISSN – 2349-3100

वेदों में तिथियों की वैज्ञानिक अवधारणा

✍ डॉ.आशीष कुमार चौधरी

भारतीय आर्षज्ञान की परम्परा में स्रोत के रूप में वेदों की मान्यता स्थापित है। वेद ज्ञान का अक्षय भण्डार है। यह अनादि है, अतः अपौरुषेय है। इसकी चार संहिताओं ऋक्, साम, यजुर्वेद. एवं अथर्ववेद के साथ ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद-ग्रन्थों को भी ब्रह्म के निःश्वास से उद्भूत माना गया है। अतः मन्त्र और उसके ब्राह्मण गन्थों को भी वेद कहा गया है **–मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**। वेद ज्ञान का अक्षय स्रोत है। हमारी परम्परा मानती है कि प्राचीन ऋषियों ने इन मन्त्रों का दर्शन किया। वे स्रष्टा नहीं, द्रष्टा कहलाये। इन मन्त्रों के रूप में उन्होंने चराचर जगत् का दर्शन किया। प्रकृति को गहराई से देखा । चन्द्रमा, सूर्य ,तारा एवं ग्रहों का उदय अस्त होते देखा। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया कि रात को ये तारे कहाँ से आते हैं? दिन में कहाँ चले जाते हैं? इसी प्रकृति निरीक्षण के क्रम में उन्होंने अहोरात्र और संवत्सर का अध्ययन किया। सूर्य के उगने से अहोरात्र और ऋतुसम्पात से संवत्सर का अनुभव किया और उसकी गणना की। इस तरह वेदों में काल की एक इकाई के रूप में तिथि का उल्लेख बार-बार हुआ है। हमारा वैदिक समाज यज्ञ परक था। यज्ञ के लिए कालनिर्धारण अनिवार्य था। इसलिए ज्योतिष शास्त्र को वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठा मिली। तभी तो भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है –

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत ।यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्यात् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।।

वेद यज्ञ करने के लिए प्रवृत्त हैं, यज्ञ समय आश्रित है। सही समय में किया गया यज्ञादि कर्म सफल एवं गलत समय में किया गया यज्ञादि कर्म विफल होते हैं। यज्ञादि कर्म करने के लिए समय की गणना करना परमावश्यक है। समय में भी सर्वप्रथम तिथि की गणना होती है। वेदों में भी तिथि की चर्चा अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है।अहोरात्र की गणना में सूर्य से प्रतिभासित दिन की गणना अव्यावहारिक थी, क्योंकि निरीह आँखों से देखकर कोई दो दिनों में अन्तर जान पा नहीं सकता था किन्तु रात्रि में चन्द्रमा को देखकर उसकी शृङ्गोन्नति देखकर गणना व्यावहारिक थी, इसलिए संक्रान्ति की गणना की अपेक्षा तिथियों की चर्चा वेदों में प्रचुर मात्रा में मिलती है।

चन्द्रमा प्रतिदिन राशि चक्र में पश्चिम से पूर्वभिमुख 13.10.55 अंश जाता है और सूर्य 59.8गतिशील रहते हैं, इसी कारण से चन्द्रमा प्रतिदिन सूर्य से 12°·11.47 कला पूर्व की ओर आगे चलता है। चन्द्रमा की इस प्रतिदिन की गति से एक-एक तिथि होती है। चन्द्रमा की 15 वीं मात्र कलावृद्धि भाग का नाम शुक्ल पक्ष और न्यून का नाम कृष्णपक्ष है। चन्द्रमा का जब सूर्य से 180° अंश अर्थात् 6 राशि के अन्तर पर होता है तो पूर्णमासी तिथि होती है। एवं पूर्व रीति से चन्द्रमा जब 180° से 12 अंश ११ कला 87 विकला पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर गमन करके 90 अंश पहुँचने पर कृष्णाष्टमी तिथि एवं क्रमशः सूर्य से निकट होने पर एक स्थान में जाने पर अमावस्या तिथि होती है, पुनः क्रम से जब चन्द्रमा सूर्य जैसे-जैसे दूर होते जायेंगे वैसे-वैसे चन्द्रकला बढती

ISSN – 2349-3100

जाएगी एवं बढते-बढते हुए जब वह 180° अंश पर पहुँचेंगे तो पूर्णमासी होती है **–यां पर्यस्तमियादम्युदियादिति सा तिथिः। एतरेय ब्राह्मण 32.10**

चन्द्रमा के उदयान्तर अर्थात् एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त का समय तिथि कहलाती है।

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामवक्षीयते पंचदश्यामापूर्यते।। तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.5.10

चन्द्रमा एक ही है, यह चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्रमशः 15 दिन का घटता है। एवं पुनः शुक्लपक्ष में 15 दिन बढ़ता है। चन्द्रमा के अंश ऋण धन होने का नाम ही कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष है। दृष्टिगोचर चन्द्रमा के आधार पर अहोरात्र और मास गणना में पूर्णचन्द्र और शून्य चन्द्र की दो स्थितियाँ सबसे स्पष्ट थी, अतः वैदिक वाङ्मय में पूर्णिमा और अमावस्या इन दोनों तिथियों पर आधारित यात्रदर्शपौर्णमास वैदिक काल में पर्याप्त प्रचलित थे। इस शोध लेख में पूर्णिमा एवं अमावस्या तिथियों का विवेचन किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में अष्टका, उदष्ट, त्रयष्ट तका तिथियों का वर्णन मिलता है **–तस्य व्रातस्य, योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टकाः।। अथर्ववेदः 24.4। पौर्णमास्यां पूर्वमहर्भवति, व्यष्कामुत्तरम्अमावस्यायां पूर्वमहर्भवति उदष्ट उत्तरम्।**

द्वादश पौर्णमास्यः। द्वादशाष्टकाः। द्वादशामावस्याः। तैत्तिरीय ब्राह्मणः 1.8.10.2

अर्थात् कृष्ण प्रतिपदा से आठवीं तिथि की व्यष्टका तथा शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से आठवीं तिथि की को उदष्ट कहते हैं। सामविधान ग्रन्थ के (2-6.2-8.3-3) इन स्थलों पर कृष्णचतुर्दशी, कृष्णपञ्चमी और शुक्लचतुर्दशी शब्द आये हैं। वेदों में चन्द्रमा की कला के न्यूनाधिक्य का कारण यह बताया गया है कि देवता उसका प्राशन करते हैं **–यत्वा देव प्रतिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृतिः।। ऋग्वेद 10.85.5 यमादित्या अंशुमाप्यायन्ति यमक्षिमक्षितयः पिबन्ति।। तैत्तिरीय ब्राह्मणः 2.4.14**

हे चन्द्र मुझे सूर्य की किरणे कृष्ण पक्ष में प्राशन करते हैं, एवं पुनः सूर्य की किरणें शुक्लपक्ष में बढ़ती हैं, उसके बाद तुम पुनः तेजस्वी होते हो, वायु सोम के रक्षक हैं और तुम संवत्सर और मासों के कर्ता हो –

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्तर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्राः अग्ने मिनुनासो अत्र सप्र शतानि विंशतिश्च तस्तुः।। ऋग्वेद 1.164.11

एक चक्र अथवा संवत्सर मे 12 महीने अविचल सनातन हैं और जिसमें सूर्य के पुत्र स्वरूप् 360 अहोरात्र भोग हैं। अमावस्या और पौणमासी तिथि की चर्चा वेदों में मिलती हैं –

तस्य व्रात्यस्य यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो
यदस्य सव्यन्मक्ष्यसौ स चन्द्रमाः।। अथर्ववेद 15.7.9, 15.8. 1,2

उस व्रात्य के अङ्गस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा जब एक स्थान में होते हैं। तब अमावस्या होती है। उस व्रात्य के दाहिनी आँख सूर्य एवं बायीं आँख चन्द्रमा है।

पुनः चन्द्रमा अमावस्यायामादित्यमनु प्रविशति आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते। एतरेय ब्राह्मण, 40.5। चन्द्रमा अमावस्या को सूर्य के साथ जब समसूत्रस्थ होता और पुनः उस से अलग होता है। **सोमावास्यायां रात्रिमेतया षोडश्या कला सर्वमिदं प्राणमृदनु प्रविश्य ततः प्रातजार्यते। बृदरादव्यः 14.4.3.22**

एष वै सोमां राजा देवनान्नं यश्चन्द्रमाः स यत्रेष एता रात्रिंन पुस्तान्न पचाद् दद्वशे तदिमं लोकमागच्छितं सइहैवपश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवानां वस्वन्नं ह्येषां।तदेषां राश्रिमिधमावसति तस्मदमावास्या नाम।। शतपथब्राह्मण 1.6.4.5

ISSN – 2349-3100

यह चन्द्रमा अमावस्या को रात्रि में जो आकाश में नहीं दिखाई पडता हैं, उसका कारण यह है कि पृथ्वी पर आकार, प्राणी, औषधी वनस्पति इत्यादि में प्रवेश सरल है।**सोमावास्यायां रात्रिकेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राण मृदनुविश्य ततः प्रवर्जीयतेष। शतपथब्राह्मणम् 1.6.4.5**

वह चन्द्रमा जिस रात्रि में 16 कलाओं से प्रकाशित होता है, तो तब सब प्राणियों को सुखप्रद होता है अर्थात् पौर्णमासी होती है। अमावस्या को दर्श और अमावस्या तथा पूर्णिमा को पर्व कहा जाता है। पूर्णिमा की अनुमति और राका अमावस्या को सिनीवाली एवं कुहा भी कहा जाता है। ऋग्वेद संहिता में मण्डल 2 में राका और सिनीवाली शब्द देखने को मिलते हैं –**आश्रित्यु तामवास्यां पश्यतः सुसमागतौ।**

अन्योन्थं चन्द्रसूर्यो तो यदा तद्दर्श उच्यते। ऐतरेय ब्राह्मण 32.10

जिस तिथि में चन्द्रमा और सूर्य समसूत्रस्थ होते हैं, उसको अमावस्या का दर्श कहते हैं –

चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्या च पूर्णिमा।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र। रविसंक्रान्तिरेव च।। ऐतरेय ब्राह्मण 32.10

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य की संक्रान्ति इनका नाम पर्व है।

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका।
या पूर्वमावस्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहुः।। ऐतरेयब्राह्मण 32.10

चतुर्दशी तिथि से संलग्न पौर्णमासी को अनुमति एवं प्रतिपदायुक्त पौर्णमासी को राका कहते हैं। इसी प्रकार चतुर्दशी युक्त अमावस्या को सिनीवाली एवं परिता युक्त अमावस्या को कुहू कहते है। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में लिखा है। क्षय तिथि के सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि –**द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्रयेकादशावमाः।। ऐतरेय ब्राह्मण 32.10**

अर्थात् एक वर्ष में 11 अवम होते है यहाँ स्पष्ट रूप से अवम शब्द तिथि का वाचक है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्ष के 360 दिनों की गणना उपलब्ध होती है। यहाँ दिन के लिए अहद शब्द का प्रयोग हुआ है इस संवत्सर को प्रजापति माना गया है –**त्रीणि च वैशतानि सृष्टिश्च संवत्सरस्याहानि तावान् संवत्सरः।संवत्सरः प्रजापतिः। प्रजापतिर्यज्ञः उपैनं यज्ञो नमस्ति यस्यैव विद्वान् त्रीणि च शतानि षष्टिं चान्वाह। ऐतरेय ब्राह्मण 7.7**शतपथ ब्राह्मण में पूर्णिमा के सन्दर्भ में कहा गया है कि इस दिन देवता चन्द्रमा का आवाहन कर यज्ञ करते हैं –**असौ वै चन्द्रः पशुस्तं देवाः पौर्णमास्यमालमन्ते शतपथ ब्राह्मण। 6.2.2.17**प्रायः यहाँ कारण है कि पूर्णिमा को ब्राह्मण माना गया है तथा अमावस्या को क्षत्रिय कहा गया है। **ब्रह्म वै पौणमासी क्षत्रममावास्या।। कौषीतकि उपनिषद – 4-8**सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाले पूर्णिमा को मर्यादित करते हुए कहा गया है –**कामो पौर्णमासी। - तैत्तिरीय ब्राह्मण3.14.15।पौर्णमास्याः प्रतिहारः। षड्विंश ब्राह्मण – 3.4** अथर्ववेद में अमावस्या के एक पर्याय सिनीवाली को दो देवताओं की बहन मानते हुए उसके प्रति आहुति दी गई है –**सिनीवली पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।जुषस्व हव्यमाहूतं प्रजां देवि दिदिद्दिनः।। अथर्ववेद7.4.2.**हे अल्प चन्द्रकला संयुक्त अमावस्या की अधिष्ठात्री देवते सिनीवाली । हे अनेक स्तुत सिनीवलि। आप देवताओं की स्वसा हैं अर्था वृष्टि आदि से स्वंय सारिणी होती हैं और समान कार्य वाली होने से आप देवताओं की भगिनी हैं ऐलीं आप इस अभिमुख आहूत हवि का सेवन करें और सिनीवली देवते । आप हमको पुत्र आदि प्रजा दीजिए। यही मन्त्र ऋग्वेद

ISSN – 2349-3100

में भी 2.33.7 में आया है।ऋग्वेद के इस सूक्त में अगले मन्त्र में सिनीवली को विश्वपत्नी, सुन्दर बाहों वाली, सुन्दर, अँगुलियों वाली और सुप्रसविनी कहा गया है –**या सुबाहु स्वंगुरिः सुषमा बहुसुवरिः। तस्यै विश्वपत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन।। ऋग्वेद 2.32.7**

इसी सिनीवाली का अगले मन्त्र में कुहु और राका के साथ आवाहन किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद के इन स्थलों पर जिन कुहु एवं सिनीवाली का उल्लेख आया है उनके सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट किया कि ये दोनो देवियाँ हैं, ऐसा निरुक्त को परम्परा मानती है। किन्तु यास्क ने याज्ञिक मतों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार ये दोनों शब्द अमावस्या तिथि के वाचक हैं – **अमावास्ये इति याज्ञिकाः। या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली।योत्तरा सा हुहूरिति विज्ञायते।। निरुक्त दैवतकाण्ड**

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता में अनेक परस्पर विपरीत किन्तु एक दूसरे के पूरक पदार्थों के साथ पूर्णिमा और अमावस्या का उल्लेख हुआ है –**चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञानं मनश्च शक्करीश्च दर्शश्च पूर्णमासश्च बृहच्चरथनन्तरं च प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छद्बृः प्रतानाज्येषु तस्मै विशः समनयन्तः सर्वाः स उग्रः स हि दृष्यो बभूवः।। यजु. तैत्तिरीय संहिता 3.4.4**यजुर्वेद में दर्श और पौर्णमास इन दोनों तिथियों का उल्लेख विस्तार से हुआ है। क्योंकि इन दोनो तिथियों में से श्रौतयाग प्राचीन काल में अत्यन्त प्रचलित थे, जिन्हे सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहा गया है। अग्निहोत्र के लिए दर्श और पौर्णमास ये दोनो याग क्रमशः अमावस्या एवं पूर्णिमा तिथि को नित्य रूप से करने का विधान किया गया है। तैत्तिरीय संहिता के तृतीय के पंचम प्रपाठक में इन यज्ञों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यहाँ कहा गया है - **मह्यं हि पौर्णमासं गुषेथा ब्रह्मणा वृद्धौ सुकृतेन। सतावाथास्मम्य सहवीरा रयिं नि यच्छतम्।। तैत्तिरीय संहिता 3.5**

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में अश्वमेघ यज्ञ के सन्दर्भ में तिथियों के वर्णन मिलने के संकेत उपलब्ध होते हैं जिसनका अनेक आधुनिक ज्योतिर्विदों ने उल्लेख किया है–**अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यादित्यै पंचमीन्द्राण्यैषष्ठी मरुतां सप्रमी बृहस्पतेरष्टम्यर्मम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी।यजुर्वेद. 25.04** पक्षति अर्थात् प्रतिपदा, निपक्षति अर्थात् द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी एवं त्रयोदशी तिथि तथा इनकी क्रम से देवता भी बतलाए गये हैं – अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, अदिति, इन्द्राणी, मरुत, बृहस्पति, अर्चना, द्यावा, इन्द्र तथा यम हैं।यद्यपि इस स्थल पर यजुर्वेद के व्याख्याकारों के अनुसार अश्वमेध के धोड़े के तेरह अङ्गों का उल्लेख उनके देवी देवताओं के साथ किया गया है। अतः इस स्थल पर तिथिगणना का कोई उल्लेख नहीं प्रतीत होता है। ज्योतिष शास्त्र की परम्परा में तिथि की देवता की जो वर्तमान सूची उपलब्ध है, वह भू इसके अनुरूप नहीं है। अतः यहाँ तिथि का उल्लेख न होकर घोड़े के अङ्गों का ही उल्लेख हुआ है, यहा मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है।

इस तरह स्पष्ट है कि पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी इन तीन महत्त्वपूर्ण तिथियों का पर्याप्त वर्णन वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध है।

असि.प्रो.ज्योतिष विभाग
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,क.जे.सोमैया.सं.वि

ISSN – 2349-3100

पशु-पक्षियों पर आधारित यात्राकालीन शकुनमीमांसा

✍ डॉ.सुनयनाभाटी

मानव का शकुनों में विश्वास सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। चर जगत् में मानवेतर पशु-पक्षी सहजानुभूति के माध्यम से दिव्य-सृष्टि के सूक्ष्म संकेतों को ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। दिव्य घटनाओं का संकेत पशु-पक्षियों को पहले ही मिल जाता है, वर्षा एवं शीतलहर ही नहीं, भूकम्प एवं बाढ़ की प्राकृतिक सूचना भी पशु-पक्षियों को आधुनिक यन्त्रों के पूर्व ही मिल जाती है। पशु-पक्षियों के इस विशिष्ट घ्राण-शक्ति एवं चेष्टाओं के कारण ही 'शकुन-शास्त्र' का विकास हुआ।

शकुन शास्त्र का लक्षण- संस्कृत में 'शकुन' पक्षी विशेष को कहते हैं।[1] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार-**"शक्नोति शुभाशुभं अनेनेति शकुनम्"** किसी कार्य के समय दिखलाई देने वाले लक्षण जो उस कार्य के सम्बन्ध में शुभ या अशुभ की सूचना देते हैं, शकुन कहलाते हैं।[2] पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार- ऐसी आकस्मिक घटना को, जिसे भविष्य का द्योतक समझा जाता है, शकुन कहते हैं; भविष्य के सम्बन्ध में अप्रत्याशित संदेश का नाम शकुन है।[3] शकुनों के प्रकार- प्राचीन भारतीय विद्वानों ने समस्त शकुनों को आठ भागों में बाँटा है, इन्हें पारिभाषिक दृष्टि से अष्टांग निमित्त कहा जा सकता है। निमित्त अर्थात् सूचना देने वाले हेतु, जिनमें भावी फल का ज्ञान संहिता ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ये निमित्त निम्न है- भौम निमित्तः, अन्तरिक्ष निमित्तः, लक्षण निमित्तः, स्वप्न निमित्तः, व्यंजन निमित्तः, अंग निमित्तः, छिन्न निमित्तः, स्वर निमित्त।[4] वराहमिहिर ने शकुनों के दस भेद निम्न प्रकार से बताए हैं- क्षण दीप्त, तिथि दीप्त, नक्षत्र दीप्त, वायु दीप्त, सूर्य दीप्त, गति दीप्त, स्थान दीप्त, भाव दीप्त, स्वर दीप्त, चेष्टा दीप्त आदि।[5] पं. विजयानन्द त्रिपाठी ने बारात के बारह कार्यों को लेकर बारह प्रकार के शकुनों का वर्णन किया है।[6] संत कवि तुलसीदास जी के अनुसार शकुन तीन प्रकार के होते हैं- 1. क्षैत्रिक शकुन- वह है, जो पूर्व योजना के अनुसार देखा जाए।

2. आर्थिक शकुन- वह है, जो यात्रा के समय बायें या दायें अचानक उपस्थित हो जाए।
3. आगन्तुक शकुन- वह है, जो यात्रा के समय अपने आप ही उपस्थित हो जाए।

जब श्रीराम की बारात चलने को थी तब ये तीनों प्रकार के शकुन अपने आप उपस्थित हुए थे। संत कवि तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में तीनों शकुनों को एक ही स्थल पर प्रस्तुत किया है।[7]

स्वर संबंधी शकुन- यात्रा आदि के समय यदि बायीं नासिका इड़ा नाड़ी (चन्द्र नाड़ी) चल रही हो तो बाएं भाग में जो भी शकुन हो वे प्रायः शुभ फलदायक रहते हैं, इसी प्रकार दाहिनी नासिका पिङ्गला नाड़ी (सूर्य नाड़ी) चल रही हो तो दक्षिण भाग में होने वाले सभी शकुन उत्तम फल देते हैं। इसके विपरीत क्रम में होने वाले शकुन अशुभ फलदायी है, यदि दोनों नाड़ियां चल रही हो अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी हो, तब न शुभ फल होता है और न ही अशुभ!

ISSN – 2349-3100

पशु संबंधी शुभाशुभ शकुन-

1. अश्व- यदि घोड़ा अपने बाएँ पैर से, जमीन को ठोके या खोदे तो स्वामी की यात्रा की सूचना देता है।[8] घोड़े का क्रौंचपक्षी की तरह शब्द करना, गर्दन को स्थिर और मुख ऊपर करके शब्द करना, उच्च स्वर से बार-बार मधुर ध्वनि करना, ग्रास से मुख अन्दर रहने पर भी आनन्दपूर्वक स्वर करना, शत्रु के वध का सूचक होता है।[9] 'पारिजातहरण' महाकाव्य में पारिजात वृक्ष हरण के लिये श्री कृष्ण का इन्द्र के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय घोड़ों का हिनहिनाना भावी विजय श्री का द्योतक माना गया है।[10] जो घोड़ा बार-बार पेशाब और टट्टी करे, मारने पर भी अभीष्ट दिशा में नहीं चले, बिना कारण डरे और जिसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाये, वह अपने स्वामी का मंगल नहीं चाहता है।[11] रावण को समझाते समय उसके नाना माल्यवान् ने घोड़ों के नेत्रों से अश्रुओं के पतन को अशुभ सूचक माना।[12]

2. हस्ति- यदि प्रस्थान के समय सामने से हाथी आता हुआ दिखे तो व्यक्ति को अपने कार्य में अच्छी सफलता मिलती है।[13] चलता हुआ हाथी अचानक रूक जाय, कान हिलना बन्द हो जाय, अत्यन्त दीनतापूर्वक सूँड को भूमि पर रखकर धीरे-धीरे लम्बी सांस लेकर चले और अर्धोन्मीलित दृष्टि हो जाये, बहुत देर तक सोए, उल्टा चलने लगे, अभक्ष्य वस्तु खाए व रक्तमिश्रित टट्टी करे, तो ये चेष्टायें भय उत्पन्न करने वाली तथा अशुभ हैं।[14] 'रावणवध' महाकाव्य में प्रहस्त नामक राक्षस के रणभूमि के लिये प्रस्थान करते समय हाथियों का गतिहीन होना अशुभ सूचना के रूप में उल्लिखित किया गया है।[15]

3. गाय- यदि यात्रा के समय सामने से बछड़े सहित गाय आ जाए और वह सुखी सौम्य व प्रसन्न हो, अर्थात् घबराई हुई, डरी हुई, क्रोधित, छिक्कादि से विहीन स्वस्थ हो तो यात्री के प्रताप की वृद्धि होती है। उसे अपने धन की प्राप्ति हो जाती है और उसके शत्रुओं का नाश होता है।[16] 'विजयप्रशस्ति' महाकाव्य में बछड़ा सहित गौ का मिलना अत्यन्त शुभ कहा गया है।[17] यदि चलते समय गाय छींक दे तो मनुष्य (प्रस्थानकर्ता) के प्राणों का नाश हो जाता है।[18]

4. श्वान- कुत्ता यदि आकर पैरों के अग्रभाग को सूंघकर बाईं ओर चला जाए तो गृहस्वामी को तुरन्त ही समीप दूर की यात्रा होती है।[19] कुत्ता यदि गमन करने वाले के दोनों पाँवों को सूंघे तो यात्रा का निषेध करता है।[20] कुत्ता गाँव में शब्द करने के बाद, श्मशान में जाकर रोए तो उस गाँव के प्रधान पुरुष का नाश करता है।[21] महाभारत में पाण्डवों की रक्षा के लिये याचना करती हुई माता कुन्ती के समक्ष कर्ण ने कौरवों की नगरी में श्वानों के रूदन का कौरवों के भावी विनाश के सूचक के रूप में उल्लेख किया है।[22]

5 मृग- यदि वन्य मृग गाँव की सीमा में दीप्त शब्द करते हुए स्थित रहें ओर, तात्कालिक उस सीमा से चले जायें तो भूत और सीमा प्रदेश की तरफ ही आवें तो भविष्य को सूचित करते हैं। यदि गाँव के चारो ओर घूमें तो गाँव को शून्य करते हैं।[23] मृगों का बाईं ओर से गुजरना अशुभ और दाईं ओर से गुजरना शुभ माना गया है। भगवान

श्रीराम और लक्ष्मण जब सीता के स्वयंवर के लिये प्रस्थान करते हैं तो मार्ग में शुभ शकुन होते हैं तथा मृगमाला दाईं ओर से गुजरती है।[24] राम और लक्ष्मण के लिये इन्द्रजित द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र के बन्धन के पूर्व मृगों का बाई ओर से गुजरना अशुभ माना गया।[25]

(6) वानर- बन्दर का किलकारी मारना यात्रा के प्रारम्भ में शुभ नहीं होता है। 'चुग्लु' ऐसा शब्द शुभ फल की सूचना देता है।[26]

(7) गर्दभ- गमन करने वाले के वाम भाग के स्थित गदहा श्रेष्ठ है, यदि वह ओंकार शब्द करे तो गमन करने वाले का हित होता है, इसके अतिरिक्त गदहे के सब प्रकार के शब्द दीप्त कहे जाते हैं।[27] 'चन्द्रप्रभुचरित' महाकाव्य में युवराज सहित राजा अजितसेन के राजा पृथ्वीपाल के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान करते समय बाईं ओर गर्दभ का बोलना विजय सूचक होने के कारण शुभ माना गया है।[28]

(8) सियार- यात्रा समय सियार दिखना सुखदायक शकुन होता है।[29] सियार दायीं ओर से या दक्षिण दिशा में शब्द करे तो उस व्यक्ति की मृत्यु व धनहानि एवं समग्र अनिष्ट फल की सूचना समझनी चाहिए। अतः दांयी ओर आकर बोलना अशुभ है। यदि शब्द न करे और दिख जाए तो शुभ फल ही होगा।[30] सब दिशाओं में सियार के दीप्त स्वर अशुभ होते हैं, किन्तु दिन में विशेष कर अशुभ होते हैं। अन्य सियार के साथ दक्षिण भाग में स्थित सियार शब्द करे तो मृत्यु को सूचित करते हैं। सियार यदि 'याहि याहि', शब्द करें तो अग्नि भय, 'टा-टा' शब्द करें तो मृत्यु, 'धिक्-धिक्' शब्द करें तो अति कष्ट ओर अग्नि की ज्वाला मुख से निकालने वाले सियार देश नाश को सूचित करते हैं।[31] 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में युधिष्ठिर के समक्ष द्रौपदी द्वारा श्रृंगालियों के शब्द का अशुभ-सूचक के रूप में उल्लेख किया गया है।[32]

(9) बिडाल- बिल्ली का शब्द गमन करने वाले के लिये सदैव अशुभ है।[33] 'बालभारत' महाकाव्य में कुरू सेनाओं के अभियान के समय मार्जारों का आर्तनाद होते हुए युद्ध करना कौरवों की पराजय का सूचक होने के कारण अशुभ माना गया।[34]

(10) वराह- यदि प्रस्थान के समय पानी के कीचड़ में खड़ा हुआ सूअर दिख जाए तो कार्य में सफलता मिलती है।[35]

(11) वृषभ और महिष- प्रस्थान के समय बैल अचानक सामने आ जाए तो शुभ फल प्राप्त होते हैं।[36] कोई व्यक्ति भैंसे पर बैठा हुआ आता दिखे तो मनुष्य के शरीर का नाश होता है।[37]

पक्षियों संबंधी शुभाशुभ शकुन

1. काक- यात्रा के समय कौआ, पंख फड़फड़ाता हुआ, यात्री के कान के पास से गुजर जाए तो सामान्य कुशलता रहती है, धन लाभ नहीं होता है। यदि बोलता हुआ कौआ, यात्री के सामने से यात्री की ओर चला आए तो भावी विघ्न की सूचना देकर, यात्रा का निषेध करता है।[38] संत शिरोमणि तुलसीदास जी ने अच्छी जगह से बैठे हुये दाहिनी ओर से उच्चारित काक के शब्द को शुभ शकुन माना है।[39] ज्योतिष ग्रन्थ 'मुहूर्त्तचिन्तामणि' भी

इसी तथ्य का समर्थन करता है।[40] शुभ वृक्ष यदि काँटेदार वृक्ष से युक्त हो तथा उस पर बैठकर कौआ बोले तो कार्यसिद्धि कलहपूर्वक होती है।[41] 'मृच्छकटिक' में काक द्वारा शुष्क वृक्ष पर रूक्ष स्वर से सूर्याभिमुख होकर काँव-काँव करना महान विपत्ति का सूचक माना गया है।[42]

2. उलूक- अपनी प्रिया की अभिलाषा करता हुआ उल्लू आनन्द से 'हुँ-हुँ गुगुलुक्' शब्द करे तो शुभ। 'किस्किकि' यह शब्द सदा प्रदीप्त है। जब उल्लू बार-बार 'बल-बल' यह शब्द करे तो कलह, 'टट्ट्ट' यह शब्द दोष करने वाला और शेष शब्द दीप्त होते हैं।[43] 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य में उलूक से प्राप्त अनेक शकुनों का उल्लेख 'शिव' के साथ संग्राम के लिये किये जाते समय दैत्यों के मार्ग में नभस्थली का उलूकों से व्याप्त होना, दैत्यों के विनाश का सूचक था।[44]

3. श्यामा- यदि प्रस्थान के समय बांयी ओर श्यामा चिडिया, गौरेया जैसी काली चिडिया अथवा गौरैया या कवेधिकन्या चिडिया आ जाए तो कार्यसिद्धि देने वाली होती है।[45]

4. सारिका- मैना यदि तीव्र गति से 'कक्रे कक्रे' शब्द करे या बिना डर के 'त्रेत्रे' शब्द करे तो यात्री के शरीर से शीघ्र ही खून बहने का संकेत करती है।[46]

5. चाष- चाष व कौए में लड़ाई हो रही हो और पराजित चाष, कौए के दक्षिण ओर स्थित हो तो यात्री की मृत्यु की सूचना देता है। कौए के उत्तर की ओर स्थित हो वह चाष विजयी समझा जाता है, तब यात्री की भी विजय होती है।[47]

6.कपिंजल- यात्री को चातक पक्षी प्रसन्न एवं आवाज करता हुआ दिखे तो राजा की कृपा एवं सुख प्राप्त होता है।[48]

अपशकुन निवृत्ति विचार

यात्रा करते समय यदि अपशकुन हो तो घर लौटकर जल पीकर ही पुनः यात्रा प्रारम्भ करें। यदि दुबारा अपशकुन हो जाय, तो कथमपि यात्रा न करें वरन् यात्रा का परित्याग कर दे। जैसा कि नारद संहिता में भी कहा गया है कि- गमन काल में प्रथम अपशकुन होने पर इष्टदेव का स्मरण करके यात्रा करनी चाहिए, यदि पुनः द्वितीय अपशकुन हो जाय तो ब्राह्मण की पूजा कर यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए।[49] वराहमिहिर के अनुसार यात्रा में पहली बार दुष्ट शकुन होने पर 11 बार गायत्री मन्त्र सहित प्राणायाम करें। दुबारा दुष्ट शकुन होने पर 16 बार प्राणायाम करें तथा तीसरी बार दुष्ट शकुन होने पर घर लौट जाएं।[50]

यात्रा में दिशापति का पूजन

यात्रा आरम्भ करने से पहले यात्रा काल में दिशापति का पूजन करें और उन्हीं के मन्त्रों से तिलों का अग्नि में हवन कर देवता तथा ब्राह्मणों को प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त करें एवं दिशापति के मन्त्र से पुनः हवन कर यात्रा करना सुखद होता है।[51] साथ ही यात्रा के दिन रविवार को श्रीखण्ड, सोमवार को खीर, मंगलवार को मट्ठा, बुधवार को

दूध, गुरुवार को दही, शुक्रवार को क्षीर, और शनिवार को तिल और भात खाकर यात्रा करना शुभ फलदायक होता है।[52]

आज के इस युग में देश-काल परिस्थितियां, सब कुछ बदल गई हैं। अब बड़े शहरों एवं महानगरों के मार्ग में न तो हाथी मिलता है, न गदहे लोटते हुए दिखलाई देते हैं, न ही हमें मार्ग में शकुन चिड़ी या कोयल के स्वर सुनाई पड़ते हैं। अब जलपूर्ण घट वाली पनिहारिन की जगह बाल्टी, जग आदि ने ले ली है। चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों व जानवरों की जगह चित्र-विचित्र वेशभूषा वाले नर-नारियों ने ले ली, उनके मधुर शब्द या कर्कश शब्द एवं आचरण शकुन की श्रेणी में आ सकते हैं। संक्षेप में कहें तो परिस्थितियाँ चाहे जितनी बदल जाये, ऋषियों के ज्ञान की धरोहर की मूल भावना एवं शकुनों की सार्थकता आज भी नहीं बदली है। शकुनों की उपादेयता व अक्षुण्णता, दैनिक लोक-व्यवहार में आज भी ज्यों की त्यों प्रचलित है।

संदर्भसूची-

1.संस्कृतहिन्दीकोश- शिवरामआप्टे, पृ. 996

2.शब्दकल्पद्रुम (पंचमकाण्ड), पृ. 2

3.An Omen is an event which is supposed to indicate destiny, the chief feature being the gratuitous nature of the happening, it is a message about the future which we do not seek for. T. Sharper Knowison; The origin of popular superstitions and customs, 1930, p. 162

4. कपूर, गौरीशंकर- स्वप्नऔरशकुन, रंजनपब्लिकेशन्स, नईदिल्ली, 2001, पृ. 106

5 बृ.सं. 85/15	15रा.व., सर्ग 15/98	25. रा.व. 14/20	35.बृ.जा.,भाग.2,67/13	45 बृ.य.जा., भा.2, 67/16
6.मा. पी. 3/303,पृ. 682	16बृ.य.जा, भा2,71/6.	26. बृ. सं. 87/22	36.वही, 67/15	46बृ.सं. 87/30
7राम.मा. बालकण्ड, 304	17वि.प्र. 6/18	27. वही 87/32	37 वही, 67/22	47 वही, 87/24
8बृ.सं. 92/10	18बृ.य.जा.,	28. चन्द्र.च. 15/27	38बृ.सं. 94/25	48बृ.य.जा., भा. 2, 67/29
9 बृ.स. 92/7	भा.2,67/2519बृ.य.जा.,	29.बृ.य.जा.,भा.2,67/24	39मा.पी. 3/303	49 ना.सं. 33/91
10 पारि.ह., 8/16	भा. 2, 70/4	30. वही, 67/27	40मु.चि.	50ब.सं. 94/62
11बृ.सं. 92/14	20 बृ.सं. 88/12	31. बृ.सं. 89/5	41.ब.सं. 94/37	51 ना.सं. 33/67
12 वा.रा. युद्धकाण्ड35/25	21.वही 88/14	32.कि.अ. 1/38	42मृच्छ. 9/10	52वही 33/62
13बृ.य.जा., भा. 2, 67/14	22.बाल.उद्योगपर्व, 5/26	33.बृ.सं. 87/35	43बृ.सं. 94/36	
14बृ.स. 93/12	23.बृ.सं. 90/1	34.बा.भा.उद्योगपर्व, 5/72	44श्रीकण्ठ22/36	
	24. मा.पी. 3/303			

पीएच.डी. (संस्कृतविभाग) दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

ISSN – 2349-3100

रामचरितमानस में नीतितत्त्व

डॉ. (श्रीमती) गीता दूबे

गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। संवत् १६३१ में अयोध्या जाकर गोस्वामी जी ने 'मानस' का आरम्भ किया और दो वर्ष सात महीने में समाप्त किया 'मानस' न केवल हिन्दी साहित्य बल्कि विश्व साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। क्यों कि मानस के विस्तृत कथानक में भारत की सामाजिक सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन पद्धतियों का इतना व्यापक चित्रण किया गया है जो विश्व साहित्य एवं संस्कृति के लिए अनुकरणीय है।

'रामचरितमानस' का कथानक पूर्णतः सुसंगठित एवं व्यवस्थित है। इसका कथानक भारतीय साहित्य में चिरकाल से प्रचलित एवं विख्यात राम कथा पर आधारित है। इसके नायक रघुकुल श्रेष्ठ भगवान राम है। तुलसी ने राम के रूप में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की आदर्शमयी ऐसी सजीव प्रतिमा स्थापित की है जो सम्पूर्ण विश्व में अलौकिक, अनुपम एवं अद्भुत है, जो धर्म एवं नैतिकता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है, एवं जिसमें त्याग, वैराग्य एवं साधु प्रकृति के साथ-साथ लोकहित एवं मानवता का साकार रूप स्थित है। तुलसी के दृष्टि विस्तार को रेखांकित करते हुए शुक्ल जी ने कहा था – **"भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते है तो इन्हीं महानुभाव को"**।रामचरित मानस में तुलसी को कवि के रूप में ही नहीं एक उपदेशक के रूप में भी देखा जा सकता है। मानस एक नैतिक पाठशाला है, जिसमें नीति सम्बन्धी तरह-तरह की शिक्षा प्राप्त होती है। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को जीने की कला से अवगत कराता है। राम चरित मानस में नीति सम्बन्धी शिष्टाचार सर्वत्र देखा जा सकता है। यह नीति परक शिष्टाचार का एक अक्षुण्ण स्रोत है। मानस के प्रारम्भ से ही यह शिक्षा मिलती है कि काव्य कर्म एक श्रेयस कर्म है। श्रेयस कर्म में विघ्न बहुत होता है इस तरह काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सरस्वती एवं गणेश की वंदना करनी चाहिए-**वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।**इसी प्रकार गुरु की अनेक प्रकार से वन्दना की गयी है गुरु को ईश्वर के समान या फिर उनसे अधिक माना गया है एवं उनकी वाणी मोह रूपी घने अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य किरणों के समूह के समान है-**वंदऊं गुरूपदकंज कृपा सिंधु नररूप हरि। महा मोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर॥**आज गुरु शिष्य के सम्बन्धों में जो कमी देखी जाती है उसे मानस वचन से प्रेरणा लेकर सुधारा जा सकता है।गोस्वामी जी ने सामाजिक नीति की ओर अधिक ध्यान दिया है उन्होंनें कीर्ति, कविता एवं ऐश्वर्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है – **कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कह हित होई।**मानस में माता, पिता एवं गुरु को श्रेष्ठ माना गया है। सोलह कलाओं से सम्पन्न ईश्वर के अवतार भगवान रामचन्द्र को भी सुबह-सुबह माता पिता का चरण स्पर्श करते बताया गया है। इस कथन के पीछे शायद तुलसी यह सोच रहे होंगे कि ईश्वर जब तक अपने लोक में होते हैं तो भले ही वे सर्व शक्तिमान हो किन्तु जब वे धरती पर आते हैं तो बिना

ISSN – 2349-3100

माता, पिता एवं गुरु का आशीर्वाद लिये उनकी तमाम कलाएं, शक्तियां भी असमर्थ सी होती है। जैसे कितना भी सच्चा प्रमाणपत्र हो जबतक उसपर अधिकारी की मुहर नहीं लगती है वह व्यवहार्य नहीं होता। उसी तरह माता पिता एवं गुरु का आशीर्वाद उस मुहर की तरह हैं जिससे राम जी को भी प्रामाणिकता प्राप्त होती थी।राम प्रातः काल उठकर पहले इनके चरणों की वन्दना करते एवं उनकी आज्ञा लेकर नगर कार्य करते थे – **प्रातः काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा । आयसु मागि करहि पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥** राम चरित मानस पहला ऐसा ग्रन्थ है जिसमें वचन की रक्षा के लिए प्राण को भी गँवा दिया गया। वचन की रक्षा ही सर्वोपरि है। राजा दशरथ ने अपने वचन की रक्षा के लिए ऐसा ही किया – **रघु कुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहु बरु बचनु न जाई॥**प्रायः समाज में सास बहू का सम्बन्ध एक दूसरे के प्रति अच्छा नहीं देखा गया है। यद्यपि इसमें पूर्ण सत्यता नहीं है। तुलसीदास ने सास के आदर्श स्वरुप की परिकल्पना कर एक अनोखी सीख दी। सास का बहू के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, वह बहू को किस प्रकार रखें इसके विषय में भी मानस में उल्लेख है। कौसल्या जी कहती है- **मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई। नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउ प्रान जान किहिंलाई॥**इस ग्रन्थ में भावी को प्रधानता दी गयी है। इस नीति का अनुशरण करके प्रत्येक व्यक्ति शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकेगा। जीवन में उतार-चढ़ाव आने पर कोई किसी को दोष नहीं देगा न ही स्वयं दुःखी एवं उतावला होगा, इन सब से परे रहकर एकसमान जीवन जीने का प्रयास करेगा। मुनि वशिष्ठ भरत से कहते हैं- **सुनहु भरत भावी प्रबल विलखि कहेहु मुनिनाथ। हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ॥**

भारतीय राजनीति में राजा का बड़ा महत्त्व होता है। मानस में कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहे वह राजा होने योग्य नहीं है एवं वह नरक का अधिकारी है। तुलसी ने श्रीराम से स्वयं कहलवाया है कि मुखिया मुख के समान होना चाहिए-**मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान कहुं एक। पालई-पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥**मानस के किष्किन्धा कांड में बालि सुग्रीव को राज्यच्युत कर उसकी पत्नी को अपना लेता है जिसका परिणाम बालि को भोगना पड़ता है। इस अनीति के सन्दर्भ में लिखा है- **अनुज बधू भगिनी सुत नारी, सुनु सठ कन्या सम ये चारी। इन्हइ कुदृष्टि विलोकत जोई। ताहि बधे कहु पाप न होई॥**अतः पर स्त्री को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए।सुख के दिनों में तो सभी अपने होते हैं, सच्चे होते है, किन्तु दुःख के आने पर रिश्तों की सच्चाई का सही अनुमान लगता है। आपत्ति के समय किस-किसकी सही पहचान होती है यह नीतिपरक उल्लेख भी मानस में मिलता है- **धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपद काल परिख अहिं चारी।**भगवान राम सुग्रीव से वार्ता करते हुए मित्र का धर्म बताते हुए कहते हैं कि जो मित्र के दुःख से दुःखी नहीं होता है उन्हें देखने से बड़ा पाप लगता है। अतः मित्र को एक दूसरे के दुःख में भाग लेना चाहिए, साथ देना चाहिए। श्री राम जी कहते है- **जे न मित्र दुःख होहिं दुःखारी तिन्हहि विलोकत पातक भारी।** जब राम समुद्र पार कर लेते हैं और रावण को यह सूचना प्राप्त होती है तब रावण सभा से इस विषय में जानना चाहता है कि सभा का इस विषय में

ISSN – 2349-3100

क्या विचार है। किन्तु सब भयवश रावण का ही यशगान करते हैं, तो रावण को सचेत करते हुए तुलसी ने बड़ी नीतिगत शिक्षा दी है-सचिव वैद गुरु तीनि जौ प्रिय बोलहि **भय आस। राजधर्म तन तीनि कर होई बेगाहिं नास॥**इससे यह शिक्षा मिलती है कि शासक प्रजा में भय न स्थापित करें एवं प्रजा और उसमें भी ऊंचे जिम्मेदार पदों पर बैठे हुए व्यक्तियों को ठकुर सुघती नहीं करनी चाहिए, सत्य का अनुशरण करते हुए उचित सलाह देनी चाहिए जिसमें राजा, प्रजा सबका हित समाहित हो।

मानस में परस्त्री के सन्दर्भ में भी नीतिगत बातें कही गयी हैं। रावण के दरबार में बिभीषण आकर सीता को लौटाने की प्रार्थना करता है वह कहता है, कि यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो पराई स्त्री सीता का वैसे ही परित्याग कर दीजिए जैसे चौथ के चंद्र का परित्याग किया जाता है कोई उसे देखता नहीं। माल्यवन्त जो रावण का बूढ़ा एवं विवेकशील मंत्री था, उसने भी शांति हेतु नीतिगत ढंग से समझाते हुए कहा है-**जहाँ सुमति तह सम्पति नाना। जहाँ कुमति तह विपति निधाना॥**अर्थात, सुमति में ही सम्पूर्ण सुख शांति निहित है और सदैव सुमति का अनुसरण करना चाहिए। भगवान राम समुद्र पार जाने के लिए प्रार्थना कर रहे थे एवं प्रार्थना करते हुए तीन दिन बीत गये लेकिन समुद्र नहीं माना। तब राम लक्ष्मण से धनुषबाण मांगते हुए दुष्ट प्रकृति वालों के लक्षण बताते हुए कहते हैं-**सठ सन विनय कुटिल प्रीति, सहज कृपन सन सुन्दर नीती। क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा, ऊसर बीज भये फल जपे॥**पुनः **-काटेहि पै कदरी फरइ कोटि जतन कोइ सीच । विनय न मान खगेश सुनु डाटेहि पै नव नीच॥** अतः दुष्ट प्रकृति के साथ सज्जनता का व्यवहार निष्फल होता है उसके साथ कठोरता का ही व्यवहार उचित होता है।उत्तरकाण्ड में गोस्वामी जी ने धर्म एवं अधर्म की चर्चा बड़े संक्षेप में करते हुए लिखा है – **परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥**यद्यपि कथन संक्षिप्त है किन्तु यदि इस नीति वचन का पालन होने लगे तो अधर्म का नाम ही न रह जायेगा। सर्वत्र धर्म का सही अनुसरण होगा। गुरु शिष्य सम्बन्ध प्राचीन काल से ही बहुत आदरणीय रहा है। किन्तु समय के साथ दोनों के व्यवहार में परिवर्तन को देखते हुए कर्तव्य के प्रति सावधान किया गया है। जो गुरु शिष्य से धन तो ले लेता है किन्तु उनके दुःख का शमन नहीं करता, ऐसे गुरु के लिए तुलसी ने कहा है-**हरइ शिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुं परई॥**इसी प्रकार जो शिष्य गुरु का निंदक होता है उसे भी दण्ड मिलता है तुलसी ने लिखा है- **हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई॥** रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड पूर्ण रूप से नीतिशास्त्र ही है। जीवन को सभी दृष्टिकोणों से देखा गया है। यदि मनुष्य इसमें कही गयी नीतियों का पालन करें तो जीवन धन्य हो जाये।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रामचरितमानस में आदि से अन्त तक नीति सम्बन्धी विचार दिखाई देते हैं। तुलसी कृत मानस नीति का महासागर है जिसमें गोता लगाना दुष्कर कार्य है। किन्तु एक अल्प प्रयास अवश्य है। गोस्वामी जी नीतिशास्त्र के मनीषी हैं। सम्पूर्ण रामचरितमानस नैतिक शिक्षा से युक्त है जिसका अनुकरण मनुष्य के जीवन में सुख एवं शाति का संचार कर सकता है। यह भारतीय संस्कृति का उद्गम स्रोत है। सभी भारतीयों के लिए सदैव सादर अनुकरणीय है। यह मानस भारतीय जीवन पद्धति है, भारत की पहचान एवं अस्मिता है।

ISSN – 2349-3100

संदर्भसूची

[1] हिन्दीसाहित्यकाइतिहास; आ. रामचन्द्रशुक्ल, पृष्ठ 75

[2] रामचरितमानस: गीताप्रेसगोरखपुर, पृष्ठ 1

[3] रामचरितमानस: गीताप्रेसगोरखपुर, पृष्ठ 3

[4] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, बालमोड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 17

[5] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, बालमोड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 165

[6] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 308

7 तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 331

[8] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 414

[9] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 521

[10] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 594

11 तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 536

[12] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 591

[13] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 646

[14] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 648

[15] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 662

[16] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 822

[17] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 869

[18] तुलसीदास कृत रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 898

प्राध्यापिका,क.जे.सो.संस्कृत
विद्यापीठ,मुम्बई

ISSN – 2349-3100

भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था

✍ डॉ. रंजय कुमार सिंह

2000 ई. पू. के लगभग उन लोगों को संभवतः कैस्पियन सागर क्षेत्र के निवासी के रूप में जाना गया जो यूरोप और एशिया के विभिन्न भागों में जाना आरम्भ किए। उन लोगों को भारत-यूरोपीय भाषा-भाषी कहा जाता है क्योंकि वे भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं को बोलते थे। वे आर्य के नाम से जाने जाते है। इन लोगों का एक समूह जिसे भारतीय आर्य कहा जाता है 1500 ई.पू. के आसपास भारत आया। वे प्रकृति की शक्तियों वर्षा और विद्युत के देवता इन्द्र, वायु के देवता मरुत और सूर्य की पूजा करते थे। इन आर्यों का विश्वास था कि ये देवता वर्षा करते हैं, उनकी फसलों को पकाते और शत्रुओं को पराजित करने में उनकी सहायता करते है। इन देवताओं की प्रशंसा में लिखे गये सूक्तों का संग्रह ऋग्वेद में है। इस प्रकार जिस भारतीय संस्कृति का विकास हुआ उसमें वैदिक और प्राक् वैदिक संस्कृतियों का समन्वय हुआ। प्राचीन काल से अब तक भारतीय सामाजिक व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता जाति प्रथा रही। उसकी शुरुआत वैदिक काल के आरम्भ से ही हो गई थी।

सबसे पहले आर्यों का सिन्धु और उसकी सहायक नदियों तथा सरस्वती और हषद्वती की घाटियों में प्रथम उपनिवेश था। अब आर्य अपनी खानाबदोशी जीवन शैली छोड़कर स्थायी रूप से मकानों में रहने लगे थे। ये मकान लकड़ी और बांस के बने होते थे और आधुनिक देहाती मकानों से बहुत भिन्न नहीं थे। इन घरों में आर्यों ने एक सुखद पारिवारिक जीवन का विकास किया। उसका रूप आज भी हम चारों ओर पाते हैं। परिवार का आधार विवाह का पवित्र बंधन था। प्राचीन आर्यो की दृष्टि में पति-पत्नी के सम्बन्ध जैसा दूसरा और अधिक कोमल सम्बन्ध न था। पत्नी पति के अधीन होते हुए भी गृहस्वामिनी थी। उसका महत्त्व इस बात से प्रकट है कि वह पति के साथ सभी धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। पति के घर आये लोगों से स्त्रियाँ खुल कर बात करती थीं और दावतों तथा यज्ञों में काफी अलंकृत और सुसज्जित होकर जाती थीं। घर के कर्त्तव्यों के प्रति वे अत्यन्त सतर्क थीं। ऋग्वेद में उनके प्रातः उठकर नौकरों को काम पर लगाने और स्वयं गीत गाते हुए काम में लग जाने का आनन्ददायक चित्रण है। शिक्षा के क्षेत्र में भी वे किसी प्रकार उपेक्षित नहीं थीं। विश्वतारा, अपाला और घोषा आदि स्त्रियों ने तो मंत्रों की रचना कर ऋषि पद प्राप्त किया था। ऋतु दर्शन के बाद स्त्रियों का विवाह हो जाता था। विवाह में कोई बंधन नहीं था और बालक-बालिकाओं को अपने जीवन साथियों के चुनाव में काफी स्वतंत्रता थी। परिवार के सभी व्यक्तियों के बीच जो स्निग्ध और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था, वह भारतीय समाज की विशिष्टता रही है और उसका वर्णन रामायण और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में भी मिलता है। परिवार राज्य का मूल आधार था अनेक परिवार आत्मीयता के वास्तविक अथवा कृत्रिम सम्बन्धों के आधार पर गोत्र का निर्माण करते थे – अनेक गोत्र मिलकर एक विश बनता था। और इन विशों से जन समूह बनते थे। जन तत्कालीन सबसे

ISSN – 2349-3100

बड़ी राजनीतिक इकाई थी। कहीं-कहीं पर राजा के निर्वाचन की भी चर्चा पायी जाती है। कुछ कबीलों में लोकतंत्रीय व्यवस्था थी और उनके प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित होते थे।

राज्य सामान्यतः छोटे-छोटे होते थे किन्तु ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रतीत होता है कि एक राजा का दूसरे राजा पर प्रभुत्व भी होता था और उनके पास अपार सम्पदा होती थी। राजा सदैव छोटे-मोटे कबीले का सरदार मात्र न था। एक यज्ञ द्वारा उसका विधिवत् राज्याभिषेक होता था और राजा युद्ध में अपने कबीले का नेतृत्व करता और प्रजा के धन जन की रक्षा करना अपना सबसे पवित्र कर्त्तव्य मानता था। पुरोहित और सलाहकारों की मदद से न्याय करता था। आर्य लोग खाते-पीते और सुखपूर्वक रहते थे। वे लोग शाक और मांस दोनों खाते थे। वे मछलियों, पक्षियों, भेडों तथा बकरी इत्यादि का ही मांस खाते थे। चावल, दाल, जौ और तिल उनके मुख्य निरामिष खाद्य थे। वे न केवल भात वरन् आटे की बनी मोटी और पतली रोटियाँ भी खाते थे। दूध और उनसे तैयार किये हुए अनेक खाद्य जैसे घी, मक्खन और दही तथा फल, सब्जी, ईख और कमल के विभिन्न भाग उनके प्रिय पेय और भोज्य थे। वे नशीले पेय भी पीते थे जिनमें मुख्य जौ आदि अन्नों से बनी हुई शराब और सोमरस थे। साधारण लोग एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र पहनते थे। परवर्ती संहिता-काल में अन्तरीय का भी प्रयोग होने लगा था। वधुओं अथवा नर्तकियों आदि के पहनने के विशेष वस्त्र का उल्लेख है। स्त्री पुरुष दोनों ही तेल लगाते और बाल काढ़ते तथा चोटी करते थे। खेती उन लोगों का स्वभाविक ही मुख्य उद्यम था। आज के किसानों की भांति ही वे हल और बैलों की सहायता से खेत जोतते थे। सिंचाई एवं खेती-सम्बन्धी अन्य कार्य पिछले तीन-चार हजार वर्षों से आज तक ज्यों के त्यों होते चले आ रहे हैं। परवर्ती संहिताओं में हलों का उल्लेख है जिनमें छह, आठ, बारह और चौबीस-चौबीस बैल भी जोते जाते थे। गाय और बैल ही उनकी मुख्य सम्पत्ति थे। पशुपालन की ओर स्वाभाविक रूप से अधिक ध्यान दिया जाता था। सूत और उन की बुनाई प्रमुख थी, जिससे लोगों को पहनने के वस्त्र मिलते थे। वे घर बनाते, गृहस्थी के सामान बर्तन और खाट आदि देते थे। वे लोग रथ, गाड़ी, पोल और नौका भी बनाते थे। लोहारों का अस्तित्व था। वे महीन सुइयों से लेकर हंसिया, हलों के फल, भाले, तलवार आदि जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएँ बनाते थे। वैद्यों और पुरोहितों का भी प्रमुख स्थान था। वैद्य जड़ी-बुटियों के सहारे न केवल रोगों को अच्छा करते थे वरन् भूत-पिशाचों को भी भगाते थे।

एक ही परिवार के लोग विभिन्न कला-कौशल और उद्योगों मे काम करते थे। इसका एक उदाहरण एक ऋचा में इस प्रकार पाया जाता है – "मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्या है, मेरी माँ अन्न पीसती है, साधन भिन्न है, किन्तु सभी को धन की इच्छा है और सभी समान रूप से पशुओं की आकाक्षा करते हैं।" पुरोहितों और सैनिकों के पेशे अन्य पेशों की अपेक्षा उच्च समझे जाते थे। इनमें क्रमशः ब्राह्मण और राजन्य कहे जाने लगे। 'विश' अर्थात् सामान्य जनता आगे चलकर वैश्य कही जाने लगी। उस समय जो आर्यों के घरों में नौकरी या छोटे-मोटे कार्य करते थे। सामूहिक रूप से ये लोग दास अथवा शूद्र कहलाते थे। समाज में उनकी स्थिति आर्यों से नीची समझी

ISSN – 2349-3100

जाती थी। कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण के आते-आते भावी वर्णव्यवस्था का चातुर्वण्य का आरम्भ हुआ था। इस प्रकार के वर्ण भेद ईरानियों एवं अन्य प्राचीन लोगों में भी पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वैदिक काल में ही ब्राह्मण और क्षत्रिय वंशगत हो गये थे और जाति व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों का विकास उसी समय हो चुका था।नौवहन पंजाब की नदियों तक ही सीमित न था, वरन् ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोगों में ही खुले समुद्रों में भी जाने की हिम्मत थी। आमतौर पर सिक्का अथवा उस ढंग की कोई वस्तु अर्थात् निश्चित मूल्य वाले धातु के टुकडे से वस्तु विनिमय का माध्यम था। सामान्यतः लोग आनन्दपूर्ण आरामदेह जीवन व्यतीत करते थे। स्त्री-पुरुष खुशी मनाने वाले समाजों में लीन होकर नाच-गाने द्वारा आमोद-प्रमोद करते थे। वैदिक ऋचाओं में उच्च कोटि की व्यापक नैतिकता के प्रमाण मिलते हैं। आतिथ्य सत्कार पर बार-बार जोर दिया गया है और साथ ही देवताओं से चोरों डाकुओं और झूठ बोलने वालों के निनाश की प्रार्थनाएँ की गई हैं। जादू-टोना, अपहरण और बलात्कार को अपराध कहा गया है। वैदिक गायकों ने असंख्य देवोपासनाओं और धार्मिक कृत्यों के पालन के अतिरिक्त अन्य कर्त्तव्यों पर भी पूरा ध्यान दिया। वैदिक पूजा प्रार्थना और योग प्रधान थी। अपरिवर्तनीय पवित्र मंत्रों का जाप उस समय तक अज्ञात था। प्रत्युत ऋचाओं की नवीनता को विशेष ध्यान दिया जाता था। उनके कर्मकाण्ड में यौगिक साधनाओं का अभी कोई मूल्य नहीं था। यज्ञ और प्रार्थनाओं का ही प्राधन्य था। उनकी ये प्रार्थनाएँ ही ऋचाओं के रूप में आज प्राप्त है।

यज्ञों में सामान्य खाद्य और पेय के रूप में अग्नि में डाले जाते थे ताकि वे देवताओं तक पहुँच जाये। यज्ञ की आवश्यकता और उद्देश्यों पर अनेक दृष्टियों से विचार होता था और बड़े क्रांतिकारी तर्क दिये जाते थे। यज्ञ को देवताओं से हुए और होने वाले लाभ के प्रति कृतज्ञता और स्नेह प्रकट करने का साधन समझा गया है। इस प्रतीकवाद से आगे चलकर यह मान्यता निकली कि प्रकृति की सारी व्यवस्था ही निरन्तर चलने वाला एक महायज्ञ है। वैदिक देवता- जिन देवताओं को यज्ञ में हवि दी जाती थी, वे अनेक वर्ग के थे और उनका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न था। यह सच है कि कल्पना को प्रभावित करने वाली और लाभ अथवा हानि पहुँचाने की शक्ति रखने वाली प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की प्राचीन आर्यो ने पूजा की। ये व्यक्ति देवता अधिकांशतः प्रकृति के स्वभाव और साधनों के देवकृत प्रतिनिधि माने गये और उनमें मानवीय चेतनाओं के नामों अथवा विशेषणों से उनकी वास्तविक स्थिति का पता लग जाता है – यथा द्यौ (आकाश), पृथ्वी, सूर्य साधारणतया वे प्राकृतिक क्रियाएँ, जिनसे वे देवता निकले थे। उनके वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न हुए हैं जो इस प्रकार है – (1) पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति और सोम पार्थिव देवता हैं। (2) इन्द्र, रुद्र, मरुत, वायु और पर्जन्य अंतरिक्ष के देवता हैं और (3) द्यौ, वरुण, उषस्, अश्वन्, सूर्य, मित्र, सवितृ और विष्णु आकाश के देवता कहे गये हैं। वैदिक देवताओं में किसी प्रकार का बड़े और छोटे का भेद नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ देवताओं का वैदिक मंत्रों में अन्य देवताओं की उपेक्षा अधिक है, यथा – ऋग्वेद में लगभग एक चौथाई मंत्रों में इन्द्र की प्रार्थना की गई है। तथापि जैसे यूनानी देवताओं का प्रधान जियस है वैसे वैदिक देवताओं का कोई प्रधान नहीं है। इस सम्बन्ध में वैदिक आर्यो के सच्चेभाव एक सूक्त में व्यक्त किये गये हैं - "हे देवताओ! तुम में से कोई छोटा नहीं है, तुममें से कोई भी नन्हा बच्चा

ISSN – 2349-3100

नहीं है। तुम सब महान् हो।" कभी-कभी एक देवता दूसरे देवता का ही रूप भी बताया गया है और इस प्रकार एकेश्वरवादी सिद्धान्त की कल्पना की प्रक्रिया बढ़ती गई कि सभी देवता एक ही है, केवल ऋषियों ने उनका विभिन्न रूपों में कथन किया है।

उत्तर वैदिक काल में शास्त्रकारों ने पहली बार चारों वर्णों के कर्त्तव्य और नियमों का निर्माण किया। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल का समाज चार दृढ़ वर्णो पर आधारित था। इन चार वर्णों और जातियों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है-

1. **ब्राह्मण** – कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-विधि के विकास के कारण ब्राह्मण वर्ण में स्थिरता आयी। ब्राह्मण वर्ण के स्थिर हो जाने से इसके कई वर्ग बने। साधारण पुरोहित, राजपुरोहित, राज्यमंत्री, शिक्षक, उपदेशक, आचार्य और ऋषि ऐसे ही वर्ग थे। सादा जीवन उच्च विचार, धन-संचय से दूर रहना, अध्ययन-अध्यापन, अपना आध्यात्मिक विकास तथा समाज का आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन ब्राह्मणों की मुख्य विशेषताएँ थीं। ब्राह्मण समाज में श्रेष्ठ माने जाते थे तथा उन्हें अपनी श्रेष्ठता के अनुरूप ऊँचा आदर्श और उत्कृष्ट आचरण रखना आवश्यक माना जाता था।
2. **क्षत्रिय** – उत्तर वैदिक युग की सामाजिक संरचना में ब्राह्मणों के बाद दूसरा स्थान क्षत्रियों का था। क्षत्रियों का प्रमुख कार्य समाज की रक्षा और व्यवस्था थी। इस प्रकार शासन-संचालन, युद्ध करना या बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य था। अनेक क्षत्रियों ने अपने ज्ञान केवल पर ब्राह्मण पद प्राप्त कर लिया था।
3. **वैश्य** – वैश्य सामाजिक संरचना का तीसरा वर्ग था। वैश्य का प्रमुख कार्य व्यापार, कृषि तथा पशु-पालन था। वैश्यों की अनेक उपजातियाँ बन गयी थी। धनिक वैश्यों के लिए श्रेष्ठी तथा गृहपति शब्दों का प्रयोग होता था। इन्हें राज दरबार में विशेष सम्मान प्राप्त रहता था।
4. **शूद्र** – उत्तर-वैदिक सामाजिक व्यवस्था का निम्नतम वर्ग शूद्रों का था। शूद्रों का मुख्य कार्य समाज के अन्य लोगों की सेवा करना था। शूद्रों को समाज के उच्च वर्गों की भाँति यज्ञ तथा विद्याध्ययन आदि का सामान्यतया अधिकार नहीं था, फिर भी समाज में उनका विशिष्ट महत्त्व था। उच्च वर्गों के लोग शूद्रों के साथ दया का व्यवहार करते थे। कालान्तर में अन्य वर्गों की भाँति शूद्रों की भी अनेक उपजातियाँ बन गयी।

आश्रम व्यवस्था – 'जाबालोपनिषद्' में चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है। **ब्रह्मचर्य आश्रम** – जीवन का प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आता था। इस काल में अविवाहित रहकर विद्या अध्ययन का प्रावधान था। गृहस्थ आश्रम – जीवन का अगला 25 वर्ष गृहस्थ आश्रम था। इस काल में मनुष्य विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करता था। वानप्रस्थ आश्रम – 51 से 75 वर्ष तक का काल वानप्रस्थ आश्रम कहलाता था। इस अवधि में मनुष्य घर त्यागकर वन निवास करता था। संन्यास आश्रम – जीवन का अन्तिम 25 वर्ष अर्थात् 76 से 100 वर्ष

ISSN – 2349-3100

संन्यास आश्रम के अन्तर्गत आता था। ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा स्त्रियों का सादर-सम्मान कम हो गया। उनको सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था। पुत्रियों की उपेक्षा पुत्र का महत्त्व बढ़ गया। इस प्रकार की परिस्थितियों में भी स्त्रियाँ दीन हीन नहीं थी उदाहरण स्वरूप प्रमुख स्त्रियाँ घोषा, लोपामुद्रा, विश्वतारा, गार्गी तथा मैत्रयी थी, जिन्होंने समाज को नई दिशा प्रदान की।

पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर ही विवाह की प्रथा थी। विवाह सजातीय होते थे। बहुविवाह का प्रचलन था। भोजन तथा खानपान में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता है। इनका मुख्य भोजन दूध, दही, घी, तथा दाल आदि था। गो हत्या 'जघन्य' अपराध माना जाता था। मांस खाना तथा सुरापान करना अब घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उत्तर वैदिक काल की वेश भूषा में कोई अन्तर नहीं था। पहले की ही भाँति 'नीवी', 'वास' तथा 'अधिवास' का प्रयोग किया जाता था। रंग-बिरंगे कपड़े पहनने के आर्य लोग शौकीन होते थे।इस प्रकार कहा जा सकता है कि उस समय का सामाजिक जीवन सरल, सादा व उन्नत था। परिवार समाज की मूल इकाई थी। समाज कई वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में विद्वान, पुरोहित, ज्योतिषी, वैद्य तथा दूसरे वर्ग में योद्धा और सैनिक तथा राजकीय पदाधिकारी, तृतीय वर्ग में व्यापारी व उद्योगपति तथा चौथे वर्ग में दास, श्रमिक, आदि थे। सामाजिक विभाजन का आधार कार्यगत और कौशल व क्षमता थी। उस समय स्त्रियों की दशा उन्नत थी स्त्रियों को विकास करने की स्वतंत्रता थी। वर्णव्यवस्था परिवार प्रथा, खानपान, वस्त्र, आभूषण, शिक्षा तथा मनोरंजन के साधन की कमी नहीं थी। किसी प्रकार के असंतोष की भावना व्याप्त नहीं थी। सभी एक दूसरे के प्रति सम्मान तथा भाईचारे का व्यवहार करते थे।

सन्दर्भसूची-

1. भारत का इतिहास, 1989 पेजनं 23 से 42
2. एन.सी.ई.आर.टी. राजनीतिकसिद्धान्त – 2006 सामाजिकन्यायपेजनं. 52 से 63
3. आर्य सम्राज्य का इतिहास – 2006 पेजनं. 81 से 84
4. प्राचीन भारत का अभिलेख – 2007 पेजनं. 21-25
5. भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता पेजनं. 37-84
6. सामाजिक विज्ञान उत्तरप्रदेश बोर्ड – 2007 पेजनं. 25 से 35
7. भारतीयसाहित्य में राष्ट्रवादऔरभारतीय राज्यशास्त्र 2013 पेजनं. 1 से 10
8. क्रानिकलपत्रिका 2011, इतिहासविशेषांक
9. प्रतियोगितादर्पण 2011, इतिहासविशेषांक
10. गीता,1,2 अध्याय
11. मनुस्मृति,2 अध्याय

असिस्टेन्ट प्रोफेसर ,क.जे.सो.संस्कृत-विद्यापीठ,मुम्बई।

ISSN – 2349-3100

Contribution of India to the World sadhana gayatri mantras

✍**Juhe jehoge**

Once upon a time India was described as a **land of heavenly life**…; every man and woman who lived here was equivalent to divine beings. The mention of 33 billion manifestations of Gods in the Indian scriptures refers to these inhabitants of ancient India. It is a country of golden heritage and glorious past. All branches of knowledge and civilization are said to have emanated from the Indian Philosophy and Culture which were disseminated across the globe through the dedicated altruist endeavors of the Rishis. India was supposed to be the eminent guide of the entire world in pre and post vedic age. The scientific and socio-economic development here was so advanced those days that India was often referred as a **"Dimond Bird"** – a symbol of immense prosperity. The periphery of the Indian culture was so vast that practically the whole world was lying in its domain of influence until several thousandsyearsago.A large number of scholars and researchers of world-history, oriental culture and intellectual evolution have elucidated different aspects of ancient India and on contributions of India to the entire world. **Pt. Shriram Sharma Acharya** had reviewed the foundation and expansion of the culture and civilization of India and had prepared a comprehensive research document The authentic information compiled by him in 1972-73 during a voyage oversees is like a concise encyclopedia which is published as **" Samagra Vishwa Ko Bharat Ke Ajastra Anudaan"**.He provided details with evidential information and references on the global expansion and historical contributions of this most ancient culture to the civilization and cultural development of the rest of the world.Be that religion, philosophy, psychology, anthropology, archeology, sociology, art, architecture, science, technology or any other horizon of civilization and culture, the seers and sages of India had generously bestowed their knowledge, guidance and creative help to the rest of the world. In fact many of them had gone to remote corners of the earth to elevate the status of life and culture there… In this effort, many of them had eventually resided in the foreign lands for ever… Authentic proofs and references available in the above regard are still available with respect to India's contributions in different countries ranging from – North America (USA), Latin America, Mexico, Germany, Egypt…..etc to South Africa…, Kampuchia, Laos, China, Japan, Russia and Australia... Similar details are cited here for small countries like Nepal, Bhutan, Mauritius, Indonesia, Fiji, Korea, Mongolia, Burma, etc, where the influence of Indian Culture is quite evident even today.Once again, the revival of the glorious era of Indian cultural values and philosophy of life would be seen across the globe through the creative endeavors of those who have realized the divine origin and worth of the Indian Culture – including ancient religion, science and philosophy. Today when the very survival of the human race appears to be facing the unprecedented risk of extinction, the danger of suicidal end of the 'advanced' civilization cannot be avoided without empowering the force of humanity. Refinement of the value system and purification of the external and internal environment of life

have therefore become necessaryThe Indian cultural system has all elements required for the sustenance of progressive life and rise and culmination of human values up to divine heights. Its resurrection therefore appears to be the best option inthecurrentscenario.

Vasudhaiva Kutumbakam - Global Village

Because of its sound footing on the in-depth knowledge of human psychology and science of spirituality, the Indian philosophy adequately deals with unlimited expansion of different aspects of human life including those at the most personal to those at the global levels. Because, Nature and every form of existence has also been treated here as a manifestation of universal consciousness, the materialistic domain of the world and the nature, functions and activities of the gross body too fall within the consideration of this philosophy. The original structure and relevance of the Indian culture is therefore regarded as universal.

Lasting Peace and Prosperity

Indian culture also has been always the mother guide for the rest of the world till date. Even in the current context, India is highly regarded as the future Knowledge economy, and will show the right path to the rest of the world. The contribution runs down way back to the Vedic periods when**Ayurveda, Yoga therapy, Yagya**, Spiritual way of living were taught by our Rishis. Each of these famous Rishis were research scholars of their respective knowledge field.
Our culture taught to the rest of the world, the basis of life, the way to live and to improve it by giving them the 3 fold path of spirituality-

1) **Sadhana**--Worship
2) **Upasana** –Selfdiscipline
3) **Aradhana** –SelflessService

Values -Share and care is also one strong dimension which was rare in the rest of the civilizations and has been instrumental in the survival of Indian civilization. That's why, even Britishers observed when they came here for the first time. The conclusion was- India is a self sufficient country and every one here is happy. Rich-poor, Good – bad, all live in peace and harmony.
Prayer was a concept unique to our civilization and is the most primordial, fundamental and important language humans speak.
Holistic Management-All the management terms and concepts of psychology used today in the advanced corporate world are rooted in Indian civilization somewhere or the other. The concepts of Intelligence quotient, Emotional Quotient, Spiritual Quotient had all been derived from this. Researches have proved time and again the glory of this mother culture.

Foundational Elements----Indian Culture or Hinduism, as it is popularly known, is like a huge tree with its branches representing various systems of religious thought. Gayatri Mantra, from which the Vedas are said to be originated is the

ISSN – 2349-3100

foundation of this **Divine Culture** . The Vedas represent the religious tradition and their extension Upanishads represent the philosophy upon which that tradition is based.

Indian Culture essentially preaches: peaceful coexistence, potential divinity of an individual, freedom of thought, Cosmic Unity, non-violence in word, deed, and thought, reverence for all forms of life, and

the law of karma: As you sow so shall you reap and rebirth. Unlike other religions of the world, Hinduism does not date from a particular point in time, and has no particular founder. It is based upon the insight and experiences of a large number of sages, saints, and seers. It is essentially a way of life, known in Sanskrit as **Sanatana Dharma** (**Sanatana** means eternal and **Dharma**means righteousness or religion).

Indian Spirituality O God, Thou art the Giver of life, the Remover of Pains and Sorrows, the Bestower of Happiness; O Creator of the Universe, May we receive The supreme, sin-destroying light; May Thou guide our intellect in the right direction."

Indian Spirituality The Indian culture is described as **'Sa Prathama Sanskrati Vishvavara'** --- the first and the supreme culture in the world. It is honored as a divine culture. Today, when the country is undergoing haywire transformations on cultural front and facing cultural diversion and adulteration --- the influence of occidental civilization and commercialization has over shadowed the way of life of even those who vaunt for the great cultural heritage of India…., it has become more important to review the original form and expansion of the Indian culture, analyze its foundation-principles in scientific light and present in detail its different aspects, which deal with the day to day life of people and which are useful for the righteous progress of the world…..

Refrences-1.**Indian siviligation**

2.Regveda

3 indian culture

4.Upnishada darsana

5.History of veda6.Regvedic culture

6.Indian philoshphy

7.Indian art

jumper_jh@hotmail.com

Dept of phil. univ.of korea

ISSN – 2349-3100

An Overview on Reference Service on Web Environment

✍Rautmale Anand S.

Abstract

This paper is the study about reference service in web environments. Library and information science education is a professional education and it is specialized area of providing facilities. Accordingly it provides types of services such as CAS, SDI, ILL, reference services etc. The development in information technology has made strong changes in the way the information is collected, stored, retrieved, and distributed. Reference Services are also one of the products of Information and communication technologies. Perceptions of librarianship and information work have need of mastery to the body of knowledge and techniques providing Reference Services in library and information operations and services, which set up the discipline "Library and Information Science". It includes about objective of library, library services, reference service in web environment, virtual reference.

Keywords: Library service; Reference services; Reference services in web environments;

Mobile reference; Digital reference

THE LIBRARY

Library as social institution brings in to relation the writer, publisher, librarian, and reader. This relationship can also be viewed in terms of producer, intermediary and customer. Library education is qualified education concerned with library activities and functions, which bring good organization, competence, confidence and leadership in the students, who educate themselves in this education.

I) OBJECTIVE OF LIBRARY

- To assemble, preserve and administer books and related educational materials in order to sponsor, through guidance and inspiration, an enlightened citizenship and enriched personal lives
- To serve the community as a general center of reliable information

ISSN – 2349-3100

- To provide opportunity and encouragement for youngsters, and women to educate themselves continuously

II) FUNCTIONS OF LIBRARY

- To increase economic resource of people to the extent necessary to maintain the ever growing population, in comfort and free from want of any kind and also
- To help in the elevating, self-independent use of freedom with the aid of freely served books, pictures, sound records and graphic materials
- To help in increasing the opportunity for the spiritual developing of one and all of the members of humanity
- Service towards user community

III) LIBRARY SERVICES

Libraries help the user to get the information they need. For this purpose the library staffs has developed a number of tools and procedures. In addition the reference library staffs provides personalized service, whenever the user is in difficulty. Services other than these normal services, one can call as reference facilities.

IV) REFERENCE SERVICE

There was not any effort to use the library, but now -a -days when libraries are regarded as a service institution. The librarians make different struggles to make effective use of the library. In the modern time reference service is the ultimate goal of all libraries services. It is the service that connects the user with their documents and information and helps the process of supporting the use of the library. Evolving information technologies are dramatically changing every aspect of our personal, social and professional lives. The library and information profession is also facing the challenges of electronic age and been transformed by technology. Advancements in information technologies have bought impracticable changes in almost every aspect of information services. Reference services are also not an exception. Easily accessible digital information has promptly become one of the hallmarks of Internet. Internet has also substantiated as a cost effective and efficient alternative to traditional communication methods. All these improvements gave way to new range of

ISSN – 2349-3100

reference services. In this series of developments digital reference service is the latest trend for digital era.

V) CONCEPT OF REFERENCE SERVICE

Reference service represent a specialize study in library science. It is that phase of library work, which is directly concerned with assistance to readers in securing evidence and in using resources of the library in study and research (ALAGLT), Reference Service as personal service, to each reader in helping him, to find the documents answering his interest at the instant pin-pointedly, exhaustively and expeditiously (Ranganathan).In actual fact a reference service incorporates the following three basic elements:

- Information or knowledge base
- User or client now likely to be a member of the new virtual community in which the library operates
- Information professionals or librarian, who plays the role of in-between assisting and advising the user in their information seeking

Over the years the structure of knowledge and the way of accessing it is greatly influenced by the technological advancements in the field of information products is available in electric and digital form to work. Essence of the five laws of library science is that user and his information need is the prime factor in designing a reference service. Reference service is user cantered. It means the prominence is not on the book, the reference tool or the format of the information sought, but on the user, their needs and the service that can be offered to meet these needs and the education of the user in the structures of knowledge, and ways of accessing and evaluating it.

VI) REFRENCE SERVICE IN WEB ENVIRONMENT

E-mail reference is a service in which patrons request information from librarians through electronic mail. Brenda Philip discusses some of the characteristics of automatic mail. Many libraries provide patrons with an electronic form to take on which they fill in their information request and then return the form to the library through electronic mail. Another way of providing e-mail reference is through a bulletin board system in which a database of

questions and answers are providing (i.e. Cleveland Free Net). E-mail reference is becoming increasingly available over and done with libraries' web sites; e-mail reference forms are created using hypertext mark-up language. Most types of libraries offer e-mail reference. In order to compete with the Internet and assert its relevance in the face of declining funding, libraries are increasingly offering e-mail reference services.

VII) USE OF REFERENCE 2.0

- Library web sites – Wikis and Blogs such as Ohio University libraries Biz Wiki
- Libraries by Face book, My Space, Twitter
- Hennepin County and Univ. of Massachusetts are on Face book
- Brooklyn College and Denver public library are on My-Space
- Libraries using Second Life
- Widgets – University of texas

VIII) MOBILE REFERENCE

- Web page designed for mobile users
- New York Public library
- Databases designed for mobile customers
- Mobile chat
- Cornell University library
- Santa Clara County library

IX) THE FUTURE

- Libraries need to have up with user needs
- The best news is that librarians are trying many new models of reference service
- The models that work best may be tailored to the individual library and its clientele
- But what is certain is that librarians must be more visible and that marketing is needed

X) **SOME GUIDELINES**

- Need to follow interests of community
- Need to decide whether to implement a new service immediately, carefully test it
- How it impacts on existing library facilities
- How it can connection to other technology

XI) DIGITAL REFERENCE SERVICE

Digital reference is an developing trend of traditional reference service. Digital reference service is only an improvement of the same traditional services, which is emerging as natural way out to meet the user's information needs in the changing technological environment. Technically talking digital reference refers to a network of expertise, human intermediation and resources placed at the disposal of users in an online environment. It employs automatic tools wherever possible, allowing human experts to concentrate on hard demands. Digital reference is a service by which library reference service is conducted online, and the reference transaction is a computer-mediated communication. The first digital reference services were launched in the mid-1980s, primarily by academic and medical libraries, and provided by e-mail. These early-adopter libraries launched digital reference services for two main reasons: to extend the hours that inquiries could be submitted to the reference desk, and to explore the potential of campus-wide networks, which at that time was a new technology. With the advent of the graphical World Wide Web, libraries quickly adopted web forms for question compliance. Since then, the percentage of questions submitted to services via web forms has outstripped the percentage submitted via email. In the early- to mid-1990s, digital reference services began to appear that were not associated with any library. These digital reference services are often referred to as "Ask services".

XII) E-REFERENCE BOOKS

Many reference books are also brought out in CD-ROM formats and available online through payment. There are a number of reference sources available easily on-line through Internet.

- http://www.britannica.com/
- http://dictionary.cambridge.org/

REFERENCES

1.) Appleton, Leo. (2006). Perceptions of electronic library resources in further education. The Electronic Library24(5).(RetrievedfromhttP://emeraldinsight.com/Insight/ViewContentsServlet?contentType=Article &Fil).

2) Katz, William A. (1987). Introduction to reference work: basic information sources. New York, McGraw Hill Book Company.

3) Katz, William A. (1992). Introduction to reference work : Reference services and reference processes. Albany State University of New York.

4) Chauhan, Kaushal. (2012). Selected Free E-Journals in Library and Information Science in Directory of Open Access Journals, DESIDOC Journal of Library & Information Technology, 32 (4), 339-346.

5) Lisa Carlucci Thomas,(2011),"Libraries, Librarians and Mobile Services", The Bulletin of the American Society for Information Science and Technology.Vol.38,(1).

6) IFLA/UNESCO (2001). The Public Library Service: IFLA/UNESCO Guidelines for Development. Munchen: K G Saur.

7) Nazan Uçak,(2003)"Electronic Danışma Hizmeti / Digital Reference Services", Bilgi Dunyasi, Vo.4,(2),pp:103-12.

8) Ronna C.Nemer,(2010),"The Only Constant Is Change: A Narrative on Ten Years of Collaborative Chat Reference Service at San Jose Public Library"Collaborative Librarianship,Vol. 2,(3).

9) Khanna, J.K. (1994). Library and Society. 2nd ed. New Delhi: Ess Ess Publications.

10) Renata Mekovec (2007)," A Method for Improvement of objectivity of e-service quality Evaluation." Journal of information and Organization Science.Vol.

11) Sharma,C.D,(1978)" Changing Dimensions of Library Service"(chapter-I),Use of Libraries,New Delhi.

12) Goeje, M. J. de, ed. (1906). "Al-Muqaddasi: Ahsan al-Taqasim". Bibliotheca geographorum Arabicorum (in Arabic) III. Leiden: E. J. Brill.

13) Rath, Pravakar (1996). Public Library Finance. Delhi: Pratibha Prakashan.

14) Chandra, S.S. and Sharma, Rajendra K.(2004). Principles of Education. New Delhi:

Atlantic. Quoted from Platos' Republic.

15) Gates, J.K. (1987) Introduction to Librarianship. Quoted by J.K.Khanna. Library

and Society. New Delhi: Ess Ess Publications.

16) Sridevi, J and Vyas, Shalini (2005). Library and Society. New Delhi: ShreePublishers and Distributors.

K.J.Somaiya Sanskrit Vidyapeeth,

Vidyavihar, Mumbai-77

librarian.sansthan@gmail.com